श्रीयुत स्वामी अभयानन्द सरस्वती

प्रणीत

सम्पूर्ण-योग

(पूर्वार्द्ध)

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

सम्पादक :

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा

श्रीमती एन्. एन्. पटेल धर्मार्थ ट्रस्ट

राजकोट (गुजरात)

१९९३

श्रीयुत स्वामी अभयानन्द सरस्वती

प्रणीत

सम्पूर्ण-योग

(पूर्वार्द्ध)

संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

सम्पादक :

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा

श्रीमती एन्. एन्. पटेल धर्मार्थ ट्रस्ट

राजकोट (गुजरात)

१९९३

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

१९९३ ई०

श्रीमती एन्० एन्० पटेल धर्मार्थ ट्रस्ट
राजकोट (गुजरात)
के तत्त्वावधान में

श्री पी० एन्० पटेल
चेयरमैन
पी० एम्० डीज़ल्स् लिमिटेड
राजकोट (गुजरात)
द्वारा
प्रकाशित

१००० प्रतियां

मुद्रक ।
वी० वी० आर० आई० प्रेस, साधु आश्रम, होशियारपुर (पं०)

Smt. Nandu Ben Narshi Bhai Kansagra

Shri Narshi Bhai Dharamshi Bhai Kansagra

Shri P. N. Patel,
Chairman,
P. M. Diesels Ltd, Rajkot

Smt. Vijay Ben P. N. Patel

विषय-सूची

संक्षेप-सूची

ऋ०	=	ऋग्वेद
छा० उ०	=	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० सू०	=	जैमिनीय-सूत्र (पूर्व-मीमांसा)
टि०	=	टिप्पणी
तै० उप०	=	तैत्तिरीय उपनिषद्
द्र०	=	द्रष्टव्य
पृ०	=	पृष्ठ
बृ० उ०	=	बृहदारण्यक उपनिषद्
मनु०	=	मनुस्मृति
मां० उ०	=	माण्डूक्य उपनिषद्
मा० यजु०	=	माध्यन्दिन यजुर्वेद
मुण्ड० उ०	=	मुण्डकोपनिषद्
वै० द०	=	वैशेषिक दर्शन
श० ब्रा०	=	शतपथ ब्राह्मण
श्वे० उ०	=	श्वेताश्वतर उपनिषद्
ह० प्र०	=	हठयोग प्रदीपिका

इस संस्करण के विषय में

यह अतीव हर्ष का विषय है कि स्वर्गीय श्रीयुत अभयानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत 'सम्पूर्णयोग (पूर्वार्ध)' का लगभग ५० वर्ष पश्चात् पुनः प्रकाशन अध्यात्म-प्रेमी एवं योग-जिज्ञासु जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीयुत स्वामी जी महाराज न केवल प्राचीन पातञ्जल योगशास्त्र तथा हठयोग-सम्बन्धी अपेक्षया नवीन अनेक योग-ग्रन्थों के मर्मज्ञ विद्वान् थे बल्कि योग के अपने गुरु-जनों से योग के प्रायोगिक पक्ष को भी परिश्रम से श्रद्धापूर्वक सीखकर इस योग-विद्या के ज्ञान और आचरण के द्वारा मानव-जाति मात्र के हित-साधन के लिए अत्यन्त दत्तचित्त रहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने काशी में 'योग-मण्डल' नाम से एक संस्थान की प्रतिष्ठा एवं व्यवस्था की थी जहां योग की क्रियात्मक शिक्षा दी जाती थी। स्वामी जी की यह सुनिश्चित धारणा थी कि जब तक एक-एक व्यक्ति अपनी शारीरिक और आत्मिक उन्नति को प्राप्त नहीं होता तब तक उन व्यक्तियों से बना हुआ समाज कभी भी समुन्नत नहीं हो सकता जबकि यह मूलभूत शारीरिक और आत्मिक उन्नति केवल भारतीय तत्त्वज्ञानी योगियों के द्वारा आविष्कृत योग-विद्या के ज्ञान और आचरण पर ही निर्भर रहती है। इस भावना से प्रेरित होकर श्री स्वामी जी महाराज ने लगभग २५ छोटी-मोटी योग-विषयक पुस्तकों की रचना आर्य-भाषा के माध्यम से की ताकि सामान्य जनता योग की ओर आकर्षित हो सके।

स्वामी जी महाराज द्वारा प्रणीत पुस्तकों में प्रधान-कृति 'सम्पूर्ण-योग' ही है। जिसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भाग सन् १९४१ में गोपाल प्रैस, बनारस सिटी में छपे थे। यद्यपि उत्तरार्द्ध भाग बहुत प्रयत्न करने पर भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ तथापि पूर्वार्द्ध की ही विषय-वस्तु इतनी समृद्ध जान पड़ी कि पूर्वार्ध-मात्र भी पाठकों के लिए बहुत उपकारक है। जब-जब भी यह पुस्तक पढ़ी तो रह-रहकर यही विचार उठता रहा कि यह इतनी उपादेय पुस्तक सभी लोगों के हाथों में सुलभ कैसे हो।

इसी विषय में एक दिन मेरा ध्यान अचानक होशियारपुर के विश्व-प्रसिद्ध विश्वेश्वरानन्द-विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत-भारती संस्थान के श्रीयुत

डॉ० वीरेन्द्र शर्मा की ओर गया। यद्यपि अगस्त-सितम्बर १९८७ में उनके मस्तिष्क के वाम-भाग की पांच शल्य-क्रियायें (Operation) हुई थीं और पूरे वर्ष भर रोग-शय्या पर ही रहे थे फिर भी उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति न देखकर एक दिन उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। इस पुस्तक को पकड़ा कर उनकी मान्यता जाननी चाही। लगभग आधे घण्टे तक इधर-उधर देखकर बोले— "पुस्तक अच्छी है, योग में रुचि पैदा कराने वाली है, अतः उपादेय है।"

अपने मनोभाव को स्पष्ट करते हुए जब मैंने प्रार्थना की कि इसके संस्करण (Edition) का कष्ट करने की कृपा आप ही करें। इसके छापने आदि के व्यय का प्रबन्ध किसी न किसी प्रकार कर लिया जायगा। तब डॉ० शर्मा जी का दो टूक उत्तर था कि आप व्यय का प्रबन्ध कर लो, इस संस्करण के काम को अपने हाथ में बाद में उठा सकूंगा, पहले नहीं।"

शुभ कार्य में प्रभु की शुभेच्छा तथा सहायता अवश्य मिल जाती है। अपने व्यवसाय के सिलसिले में मेरा राजकोट (गुजरात) में P. M. Diesels Ltd. (Rajkot) के Chairman श्रीमान् पी० एन्० पटेल भाई के पास जाना हुआ। श्री पटेल भाई पी० एम्० डीजल, लिमिटेड के नाते देश-विदेश में फैले अपने कारोबार के द्वारा सुप्रतिष्ठित मान्य व्यक्ति हैं और मैं केवल अपने घरेलू 'रोहिणी आटोमोबाइल्स्' के द्वारा निर्मित एक-दो पुर्जे सप्लाई कर अपनी आजीविका अर्जित करता हूं। परन्तु एक लम्बे समय तक उनके साथ इस सम्बन्ध से सम्बद्ध रहते-रहते मुझ पर यह छाप पड़ी है कि एक उद्योगपति होने के साथ-साथ वे एक धार्मिक-वृत्ति के उदार और नैतिक मूल्यों के धनी पुरुष भी हैं। मुझे यह तथ्य भी सुविदित था कि उन्होंने अपनी पूज्या माता जी के नाम पर एक धर्मार्थ ट्रस्ट की स्थापना की हुई है जिसके द्वारा वे शिक्षा एवं अन्य विविध प्रकार के धर्म-कार्यों पर अपने तन-मन-धन का सदुपयोग करते हैं।

वे मुझे भी व्यवसाय-सम्बद्ध न मानकर सदा ही मित्रवत्, बल्कि यों कहना चाहिए कि पारिवारिक-जन मानकर ही मेरे साथ व्यवहार करते आ रहे हैं।

अतएव प्रसङ्ग के आने पर इस आत्मीय भावना से प्रोत्साहित होकर जब मैंने उनके साथ प्रस्ताव किया कि आपके अपने चैरिटेबल ट्रस्ट की ओर से इस 'सम्पूर्ण-योग (पूर्वार्द्ध)' का प्रकाशन हो तो बहुत अच्छा हो। तुरन्त उत्तर मिला कि आप इसके आनुमानिक व्यय का विवरण भेज दीजिए।

इसका विवरण भेजते ही उन्होंने व्यय का लगभग आधा व्यय तुरन्त भेज दिया।

यह पुस्तक संशोधित परिवर्धित एवं टिप्पणियों के सहित बहुत सुन्दर और साज-सज्जा के साथ पुनः प्रकाशित हो रही है। इस संस्करण में ग्रन्थकार की मान्यता को पुष्ट करने तथा विषय को स्पष्ट करने के लिए पाद-टिप्पणियाँ दी गई हैं। ग्रन्थ में उद्धरणों के पते भी दे दिए गए हैं। यत्र-तत्र आवश्यक होने पर भाषा का परिष्कार भी किया गया है। साथ ही एक विस्तृत सम्पादकीय भूमिका भी इसकी विशेषता है। इससे इस संस्करण की उपादेयता बहुत बढ़ गई है।

जिसका चुन्न, उसका पुन्न। इसका श्रेय श्री पटेल भाई के औदार्य का फल है। आशा है कि निष्काम-भाव से सम्पन्न हुए इस कार्य से पाठक-जनता लाभान्वित अवश्य होगी।

प्रभु करे कि यह ट्रस्ट समुन्नत होता हुआ परोपकार के शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहे।

इस पुस्तक के मुद्रण-कार्य में वी० वी० आर० आई० के संचालक श्री एस्० भास्करन् नायर का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के आकार-प्रकार, टाइप आदि के निर्धारण और सुन्दर मुद्रण में सहयोग प्रदान किया है। वी० वी० आर० आई० प्रैस के मैनेजर श्री शङ्करदास जी चढ्ढा, कम्पोजीटर श्री राजेन्द्रप्रसाद जी, श्री श्यामसुन्दर जी, मशीनमैन श्री चरणदास जी और श्री जसविन्द्र सिंह जी का भी धन्यवादी हूं जिन्होंने इसके मुद्रण में अपना मनोयोग-पूर्वक सहयोग प्रदान किया है।

—मदनमोहन आर्य

फगवाड़ा (पञ्जाब)

सम्पादकीय (भूमिका)

[१]

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य

संसार में अपने कारण से उत्पन्न होने वाला प्रत्येक पदार्थ एक काल तक स्थित होकर अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। एक बीज से उत्पन्न हुआ पादप एक काल तक फूलता-फलता हुआ अन्त में मिट्टी में मिल जाता है। यह दशा प्रत्येक उत्पन्न हुए पदार्थ की है। उत्पन्न पदार्थ का आरम्भ उसकी उत्पत्ति से होता है और उसका अन्त विनाश से होता है। उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के पश्चात् उसकी सत्ता व्यवहार के योग्य नहीं होती। उत्पत्ति से उसकी व्यवहार की योग्यता ही यह सिद्ध कर देती है कि इसका आरम्भ किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन को लेकर हुआ है अन्यथा इसका आरम्भ ही न हो पाता। किसी भी वस्तु का निर्माण करने वाला व्यक्ति उस वस्तु के उद्देश्य को लेकर ही उसका निर्माण करता है। इसी कारण उस वस्तु को वह स्वरूप प्रदान करता है जिससे उसका उद्देश्य पूर्ण हो सके।

सृष्टि में उत्पन्न हुए सारे पदार्थ दो प्रकार के हैं— चेतन और जड़। जो मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणधारी हैं वे चेतन कहाते हैं और जो घट, पट, पत्थर, जल, अग्नि आदि निष्प्राण पदार्थ हैं वे जड़ कहाते हैं। वेद की परिभाषा में इन्हें क्रमशः साशन और अनशन कहा गया है[1]। जो खा-पीकर रहते हैं वे साशन अर्थात् प्राणधारी होते हैं और जो खाने-पीने के विना ही रहते हैं वे अनशन अर्थात् निष्प्राण कहाते हैं। 'साशन' का ही दूसरा नाम 'भोक्ता' है जबकि 'अनशन' का नाम 'भोग्य' है। इन भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध भोग क्रिया के द्वारा है। इससे यह भी व्यक्त हो जाता है कि सृष्टि में उत्पन्न चेतन प्राणी भोक्तृत्व-लक्षण योग्यता रखते हैं जबकि जड़ पदार्थ भोग्यत्व-लक्षण योग्यता वाले हैं। इसी कारण सृष्टि

---

१. यजुर्वेद ३१, ४।

में इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है क्योंकि चेतन भोक्ता होने से भोग्य की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार भोग्य जड़ भी भोक्ता (चेतन) की अपेक्षा करता है।

सृष्टि में प्रत्येक जड़ पदार्थ सुख, दुःख और मोह स्वरूप वाला है। जैसे एक ही स्त्री अपने हाव-भाव के व्यवहार से पति को सुख देती है वही उसी व्यवहार से सपत्नी को दुःखदायक भी होती है। एक दूसरा पुरुष उसी स्त्री को न पाकर अविद्या के कारण मोह-ग्रस्त होता है। वही एक वस्तु सुख की, दुःख की एवं मोह की कारण होती है। इसी प्रकार सृष्टि में सभी उत्पन्न पदार्थ सुख, दुःख और मोह रूप वाले पाये जाते हैं। इन सभी पदार्थों का मूल उपादान-कारण 'प्रकृति' है। सो कार्यों में उपलब्ध सुख, दुःख और मोह की सत्ता उनके कारण-भूत प्रकृति में भी होनी आवश्यक है। इससे प्रकृति में सत्त्व (सुख), रजः (दुःख) और तमः (मोह = विषाद) की सत्ता सिद्ध है। इन तीनों को 'गुण' कहने से प्रकृति त्रिगुणा कहाती है।

ये तीन गुण—सत्त्व-गुण, रजो-गुण और तमो-गुण—क्रमशः अपने सुख, दुःख और मोह स्वरूपों से भोक्ता को संसार के भोग प्रस्तुत करते हैं।

जड़ के तीनों गुण बराबर-बराबर सम-भाव से प्रलय-काल में ही रहते हैं। इसके विपरीत सृष्टि-काल में विषम रहते हैं। सृष्टि में एक ही पदार्थ का एक कोई गुण प्रधान हो जाता है तब दो गुण गौण होकर प्रधान के प्रभाव में दब जाते हैं। यथा, जब मन सत्त्वगुण-प्रधान होकर उभरता है तब मन में सत्त्व के शान्ति, प्रसन्नता, ज्ञान का प्रकाश, हल्कापन आदि गुण उभरने से सुख की अनुभूति होती है। परन्तु जब रजोगुण बढ़ता है तो चञ्चलता, अशान्ति आदि से दुःख प्रतीत होता है। जब तमोगुण बढ़ता है तो भारीपन, अप्रकाश आदि होकर मूढ़ता (=अज्ञान) का प्राबल्य हो जाता है। इस प्रकार कभी सत्त्व-गुण के सम्बन्ध से सुख की और कभी रजोगुण के कारण दुःख की और कभी मोह (विषाद) की अनुभूति (भोग) चेतन को होती है। अतएव सुख, दुःख और मोह सदा एक जैसे नहीं रहते। कभी सुख, कभी दुःख और कभी अज्ञान आते हैं और जाते हैं। सुख के अनन्तर दुःख और दुःख के अनन्तर सुख अवश्यमेव आता है। यह प्राणि-मात्र का भागधेय है। स्वभावतः दुःख किसी को अनुकूल नहीं पड़ता, सुख ही अच्छा लगता है। अतः प्रत्येक प्राणी दुःख से उद्विग्न होकर उससे छुटकारा पाने और सुख की प्राप्ति के लिए सतत रूप से संलग्न रहता है।

मानव भी प्राणि-समुदाय का एक अङ्ग है। उसकी भी कहानी यही है। दुःखों को दूर करने और सुखों की प्राप्ति करने के लिए वह भी व्यग्र रहता है।

सभी दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से त्रिविध हैं। आध्यात्मिक दुःखों के भी दो भेद हैं— मानसिक, जो मन में उद्भूत होते हैं। दूसरा शारीरिक, जो शरीर में होते हैं। दूसरे प्राणियों से प्राप्त होने वाले दुःख आधिभौतिक और जो दुःख देव-प्रदत्त मिलते हैं वे आधिदैविक कहाते हैं। दुःख की विशेषता ही यह है कि प्राणी इसके विनाश के प्रयत्न में लगे रहते हैं। अतः मनुष्य दुःखों के उच्छेद के लिए विविध प्रयत्न करता है। मानसिक दुःख तब होता है जब प्राणी जो कुछ चाहता है वह उसे प्राप्त नहीं होता। इष्ट वस्तु के अभाव से दुःख होता है। अथवा जब किसी वस्तु को वह नहीं चाहता परन्तु वह अनिष्ट वस्तु उसके गले में पड़ जाती है। इन इष्ट और अनिष्टों की प्राप्ति और परिहार के लिए प्राणी सतत सन्नद्ध पाया जाता है। शारीरिक दुःख जो विविध रोगों से होते हैं उनका उपाय औषधी के प्रयोग से चिकित्सा द्वारा होता है। दूसरे प्राणियों— शेर आदि वन्य प्राणियों, साँप, कांतर आदि सरीसृपों, बिच्छु आदि कीटों और वैरी मनुष्यों से जो आधिभौतिक दुःख मिलता है उसको दूर करने के लिए मनुष्य ग्राम-नगरों की स्थापना कर अनुकूल आवास-गृह बनाता है, और शस्त्रास्त्र से सुसज्जित बलवती सेना खड़ाकर शत्रुओं से अपनी रक्षा करता है, समाज में सुव्यवस्थित राज्य-प्रबन्ध के द्वारा अनेक प्रकार के अभावों की पूर्ति और अनिष्ट प्रसङ्गों का निवारण करता है। आधिदैविक विपत्तियों — यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल आदि से उत्पन्न विपदाओं — से भी यथाशक्ति रक्षा के लिए मनुष्य-समाज प्रयत्न करता है। नहरें आदि खोद कर, कूप, बावड़ी आदि बनाकर दैवी विपदाओं से भी अपने को बचाता है।

ये सब प्रयत्न निःसन्देह श्रेयस्कर हैं और अत्यावश्यक भी हैं। आज का मानव-समाज प्रायः इन्हीं उपायों द्वारा दुःख-निवृत्ति में संलग्न है। इससे दुःख की निवृत्ति होती भी है, परन्तु पूर्णतः नहीं होती। यह प्रयास शाखा-प्रशाखाओं को काट देने के तुल्य है। मूल कारण को— जड़ को— जब तक नष्ट न किया जाय तब तक अत्यन्त निवृत्ति अशक्य है। परन्तु जब तक यह मूलोच्छेदन नहीं हो जाता तब तक उपर्युक्त संसार के उपाय श्रेयष्कर हैं एवं आवश्यक भी हैं।

परन्तु आज का मानव अपने जीवन की सम्पूर्णता से—उसके समूचेपन से—बेखबर दिखाई देता है। उसकी दृष्टि में जन्म से लेकर मृत्यु तक ही उसके जीवन की पूर्णता दिखाई देती है। इसके फलस्वरूप उसके जीवन का आदर्श बन गया है कि खाओ, पिओ और मौज करो (Eat, drink and marry) और इसके आगे उसका और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है।

प्रश्न यह है कि क्या यही मानव-जीवन का लक्ष्य है?

इस प्रश्न को उपेक्षित कर दिया जाता यदि प्राणी की सत्ता जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् न होती जैसा कि भारतवर्ष में भी चारवाक-नामक कुछ लोगों का कथन था कि पृथिवी आदि भूतों के संयोग-विशेष से देह में चैतन्य पैदा हो जाता है और मृत्यु-काल में उनके ही विभाग-विशेष से चैतन्य नहीं रहता। परन्तु यह कथन सर्वथा निराधार है। तथ्य तो यह है कि प्राणी की सत्ता जन्म से पूर्व भी थी और मरने के पश्चात् भी रहेगी। मृत्यु से उसका अन्त नहीं हो जाता। भारतीय विचार-धारा के अनुसार प्राणी का जीवन मनुष्य अथवा अन्य किसी योनि में 'पुनर्जन्म' लेता है[1]। मृत्यु तो केवल वह जंक्शन है जहाँ पर यात्री को पहली गाड़ी छोड़ कर दूसरी गाड़ी या वाहन पकड़ना होता है। मृत्यु से उसकी यात्रा रुक नहीं जाती, वह जारी रहती है। इस यात्रा का जारी रहना ही बताता है कि मृत्यु के साथ-साथ उस यात्रा का लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। यात्री का लक्ष्य प्राप्त होने पर तो उसकी यात्रा समाप्त हो जाती है।

भारतीय विचार-धारा में मानव के स्थूल शरीर को एक रथ अथवा नौका बताया है जिस पर पुरुष (जीवात्मा) सवार है। कठोपनिषद् मनुष्य को सम्बोधन कर कह रही है "हे मानव! तू अपने आत्मा को रथ का सवार समझ और अपने शरीर को रथ समझ। तेरी बुद्धि तेरा सारथि है जिसने मन रूपी लगाम पकड़ी हुई है। तेरी इन्द्रियाँ ही इस शरीर-रथ में जुते हुए घोड़े हैं और इन्द्रियों के सांसारिक विषय ही इनके चरागाह हैं (जहाँ हरी-हरी घास के चरने के लिए घोड़े लालायित रहते हैं)" (द्र० पृ० ४८)।

नादान से भी नादान यात्री उसके गन्तव्य को लक्ष्य बना करके ही अपनी यात्रा का आरम्भ करता है। तो, जीवात्मा जो अपने शरीर-रूपी

---

१. ऋ० १०, ५९, ६-७; यजु० १९, ४७; अथर्व० ५, १, २; योगसूत्र २, ९।

रथ पर सवार होकर अपनी जीवन-यात्रा कर रहा हो और उसका गन्तव्य निश्चित न हो— यह सर्वथा असम्भव है।

यात्रा के द्वारा जहाँ पहुँचना है उस गन्तव्य-स्थल का होना अनिवार्य है। यह निश्चित है कि केवल संसार के वैषयिक सुखों का उपभोग ही मानव-जीवन की यात्रा का उद्देश्य नहीं है। जीवन-यात्रा सुख-पूर्वक सुविधा से व्यतीत हो— इस बात से किस को आपत्ति होगी? प्रत्युत यह तो सबको अभीष्ट होगा कि यात्रा में कोई दुःख एवं आपत्तियाँ घटित न हो पायें और जीवन-यात्रा में उपयोगी सुखदायक सभी प्रकार की सामग्री उपलब्ध रहे, निरापद् रूप से जीवन-यात्रा सम्पन्न हो[1]। परन्तु यह तो यात्रा का एक प्रकार-मात्र है, उसका लक्ष्य नहीं। कश्मीर को जाने वाला यात्री यात्रा में दु.खों को झेलता हुआ यात्रा को पूर्ण करे अथवा सुख-पूर्वक करे—यह उसकी यात्रा का प्रकार-मात्र है, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य तो उसका कश्मीर पहुंचना है। इसी प्रकार जीवन-यात्रा सुखपूर्वक है, अथवा दुःखपूर्वक है—यह बात यात्रा के प्रकार की है, लक्ष्य की नहीं है। प्रश्न तो यह है कि इस यात्रा का लक्ष्य अथवा उद्देश्य क्या है? यह बात सभी जानते हैं कि किसी यात्रा की समाप्ति वहाँ हो जाती है जिस स्थान पर पहुँचने के लिए उसने यात्रा आरम्भ की थी। इसी सिद्धान्त के अनुसार जीवन-यात्रा का लक्ष्य स्थान वहीं हो सकता है जहाँ पहुंच कर यह यात्रा समाप्त हो जाय। मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेना तो जीवन-यात्रा का पड़ाव-मात्र है। हम आरम्भ में ही यह कह चुके हैं कि जिसका जन्म होगा उसकी मृत्यु अवश्य होगी। इसका अर्थ यह है कि मरने पर आगे पुनर्जन्म न हो तभी जीवन की यात्रा समाप्त हो सकती है अर्थात् जन्म और मरण के चक्र से छूट जाय, मुक्त हो जाय वही जीवन की यात्रा का अन्तिम लक्ष्य माना जा सकता है। यह मुक्ति की अवस्था वही हो सकती है जहाँ आत्मा प्रकृति के साथ सम्बन्ध को सर्वथा छोड़कर अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहे। अतएव इसको कैवल्य भी कहा जाता है। अपवर्ग भी इसका एक अन्य नाम है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य जन्म-मरण के चक्र से छूट कर मुक्ति प्राप्त करना है। परन्तु इस यात्रा के दौरान सुविधापूर्वक निर्वाह के लिए संसार का उचित उपयोग (भोग)

---

१. न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः।
(चरक-संहिता १, ११, ५)

भी करना अनिवार्य है, अन्यथा यात्रा का सम्पन्न होना ही असम्भव होगा। अतः न केवल मुक्ति को पाना लक्ष्य है, वल्कि साथ ही साथ संसार का उपभोग करना भी एक अनिवार्यता है।

मानव-जीवन में संसार के 'भोग' भी प्रयोजन हैं और 'अपवर्ग' भी। इनमें 'अपवर्ग' मुख्य है, 'भोग' गौण उद्देश्य है। अपवर्ग की प्राप्ति तक शरीर, इन्द्रिय और मन का आत्मा के साथ-साथ संयोग होने से संसार के विषयों का भोग करना भी अनिवार्य है। परन्तु भोग-रूप उद्देश्य नान्तरीयक होने से केवल गौण ही है। जैसे अङ्गारे को लाने में चिमटे का लाना गौण होता है अङ्गारे का लाना ही वस्तुतः लक्ष्य होता है। परन्तु चिमटे के विना अङ्गारे का लाना असम्भव है अत: नान्तरीयक होने से चिमटा भी लाया जाता है। इसी प्रकार जीवन-यात्रा का लक्ष्य तो कैवल्य अथवा अपवर्ग (मोक्ष) ही है परन्तु नान्तरीयक होने से संसार के विषयों का भोग भी अनिवार्य है। इस प्रकार संसार के भोग भोगते हुए अपवर्ग को प्राप्त करना जीवन का समूचा लक्ष्य निश्चित होता है।

अभी यह प्रतिपादन किया गया है कि अपवर्ग मुख्य उद्देश्य है जबकि सांसारिक भोग गौण लक्ष्य है। सदा सर्वत्र मुख्य के लिए ही गौण की सत्ता होती है। मुख्य के अनुसार गौण को चलना होता है। गौण होने से नौकर को स्वामी के अनुसार चलना होता है। यदि गौण मुख्य के अनुसार कार्य न करे तो उन दोनों का सम्बन्ध समुचित न होंने से अभीष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। इस अवस्था में गौण की छुट्टी करनी पड़ती है। चिमटा यदि किसी कारण अङ्गारे को लाने में समर्थ न हो तो उसे छोड़कर अन्य किसी समर्थ साधन के द्वारा वह कार्य करना होता है। इस सिद्धान्त से यह बात भी वहुत स्पष्ट है कि सांसारिक भोगों का उपभोग उस प्रकार से और उस सीमा तक ही किया जाना उचित है जहाँ तक वह अपवर्ग का साधक रहे, बाधक कभी न वने। तात्पर्य यह है कि संसार के पदार्थों की सामग्री जिसे 'अर्थ' कहा जाता है और उस सामग्री का इष्ट उपभोग जो 'काम' कहा जाता है ये दोनों—अर्थ और काम—आवश्यक रूप से मोक्ष के साधक ही रहने चाहिए, बाधक कभी नहीं। यह वहुत अभीष्ट है। तव इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए एक ऐसी व्यवस्था का होना भी अनिवार्य है जिसका पालन करने से एक ओर संसार के अर्थ और काम की सिद्धि हो सके तो दूसरी ओर अपवर्ग की प्राप्ति का सर्वोच्च लक्ष्य भी सिद्ध हो सके। इस व्यवस्था को ही 'धर्म' कहा जाता है। महर्षि कणाद ने 'धर्म' का लक्षण ही यह कहकर किया है कि

जिससे अभ्युदय (सांसारिक सुख) और निःश्रेयस (अपवर्ग) की सिद्धि हो उसे 'धर्म' कहते हैं—

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। (वै० सू० १, १, २)

तद्नुसार धर्म वे नियम हैं जिनका जीवन में आचरण करने से एक ओर 'अर्थ' और 'काम' की सिद्धि द्वारा संसार में अभ्युदय-सुख प्राप्त होता है तो दूसरी ओर अपवर्ग होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार मानव-जीवन के चार पुरुषार्थ— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— हैं जो इस संसार-वृक्ष के फल हैं जिनमें जीवात्मा धर्माचरण के द्वारा भोग और अपवर्ग को प्राप्त करता है—

°भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। (योगसूत्र २, १८)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'धर्म' वह नियम-व्यवस्था है जिस पर चलकर संसार के सुख और उससे परे मोक्ष-सुख की भी प्राप्ति होती है और यदि धर्म-नियम की व्यवस्था का उल्लङ्घन करके धर्म के विपरीत (अधर्म) आचरण किया जायगा तो लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों से वञ्चित होकर दुःखों की प्राप्ति अवश्य होगी। स्पष्ट है कि यह धर्म-व्यवस्था इस लोक और परलोक के अधिराज परमेश्वर के द्वारा ही नियत की गई होनी आवश्यक है तभी जीव-मात्र को धर्म एवं अधर्म के अनुसार सुख और दुःख रूप फल प्राप्त हो सकते हैं।

धर्म और अधर्म का विवेक कि अमुक सुख-कारक आचरण धर्म-रूप है और अमुक दुःख-कारक आचरण अधर्म-रूप है— इसकी व्यवस्था केवल संसार और मोक्ष का कर्त्ता न्यायाधीश, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं। इससे यह भी स्वीकार करना होगा कि यह धर्म-व्यवस्था मनुष्य के संसार में आविर्भाव के साथ ही साथ उसे बताई जानी चाहिए, ताकि उसे ज्ञान हो सके कि अमुक आचरण धर्म है या अधर्म। अन्यथा उसके फल-स्वरूप सुख या दुःख का भागी वह नहीं हो सकता।

अतः सृष्टि के प्रारम्भ में जब भी मानव आविर्भूत हुआ तभी उसको धर्म–अधर्म का ज्ञान भी परमेश्वर द्वारा कराया गया यह मानना अनिवार्य है और साथ ही साथ उसका सर्वत्र और सर्वकाल में एक-रूप होना भी आवश्यक है अन्यथा परमेश्वर में अल्पज्ञता और अन्यायी होने का दोष लगता है। एक अच्छा मानव शासक भी इस दोष से बचता है तब फिर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वाधीश न्यायकारी परमेश्वर में ऐसे दोष का

संभव कैसे हो सकता है ? इससे यह भी सिद्ध है कि इस युग में जो नाना प्रकार के परस्पर-विरोधी मत धर्म के नाम पर प्रचरित हैं वे सब मनुष्य-कृत होने से पाप-पुण्य के नियामक होकर संसार में सुख-दुःख के और परलोक में मोक्ष-सुख के कारण नहीं हो सकते। धर्म-व्यवस्था केवल सर्वाधीश परमेश्वर करता है और उस व्यवस्था को अनिवार्यतः सार्वभौम और सार्वकालिक होना चाहिए। अतः जैन, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि नाम से जो विभिन्न परस्पर-विरोधी अधर्म-रूप मनुष्य-कृत मतों को 'धर्म' मानना और उन पर विरोधी-आचरणों को करना वस्तुतः 'धर्म' की अवमानना करना है। यही कारण है कि जिस धर्माचरण से लोक और परलोक में मोक्षानन्द तक के सभी सुख निश्चयपूर्वक प्राप्त होते है, इन मतवादों के विरोध ने मनुष्य को मनुष्य का विरोधी एवं शत्रु बना कर देव-यजन धरा-धाम को नरक ही बना डाला है। ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस सुखों के कारण-भूत धर्म को लक्षित करने वाले कणादमुनि स्वयं यह भी घोषित करते हैं कि इस प्रकार के धर्म का यथार्थ ज्ञान 'वेद' (आम्नाय) से प्रमाणित होता है[1]। जैमिनिमुनि भी इसी बात को स्वीकृत करते हैं[2]। धर्मशास्त्र के सर्वप्रथम प्रणेता मनु भी यही कहते हैं कि जो लोग धर्म का स्वरूप जानना चाहते हैं तो उनके लिए 'वेद' ही परम प्रमाण (authority) हैं[3]। इन जैसे अन्य परम आप्त पुरुषों की भी ऐसी ही सम्मति है कि धर्म का यथार्थ स्वरूप वेद से ही जाना जाता है। इसके साथ ही इन आप्त महापुरुषों का यह भी सर्व-सम्मत निर्णय है कि इस धर्म-मूलक वेद का प्रणेता परम-गुरु परमेश्वर ही है। जो कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति वेदों के अध्ययन के परिश्रम को उठायेगा वह इन आप्त महानुभावों के साथ सहमत हुए विना न रह सकेगा कि वेदोक्त धर्म सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक तथा इस लोक के अभ्युदय और परलोक के निःश्रेयस का साधक है।

जैसा कि धर्म के कणाद-कृत लक्षण से स्पष्ट है कि धर्म का फल लौकिक सुख (अर्थ-सुख, काम-सुख) और मोक्ष-सुख है। इनमें से पहला सुख शरीर द्वारा ही प्राप्त हो सकता है जबकि मोक्ष-सुख की प्राप्ति प्राकृतिक स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से रहित होकर कैवल्यावस्था में ही प्राप्तव्य

---

१. वै० द० १, १, ३ : तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।

२. जै० सू० १, १, २ : चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

३. मनु० २, १३ : धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

होती है। सशरीरावस्था में तो लौकिक सुख-दुःखों से छुटकारा असंभव है जबकि कैवल्यावस्था में शरीर से रहित होने से ये लौकिक सुख और दुःख आत्मा को स्पर्श तक नहीं कर सकते[1]। कैवल्यावस्था में परमानन्द को आत्मा भोगता है। इस परमानन्द का स्रोत सच्चिदानन्द-स्वरूप परमेश्वर परब्रह्म है जिसके आधार में मुक्त आत्मा ब्रह्मानन्द से आनन्दित रहता है। परन्तु लौकिक-सुख त्रिगुण प्रकृति के सत्त्व, रजस्, एवं तमस् से प्राप्त होता है। प्रकृति ही इस सुख का स्रोत है। इस स्रोत से प्राप्त होने वाला सुख भी विवेकी जन को दुःख ही प्रतीत होता है (द्र०, योगसूत्र २.१५) जबकि परमेश्वर के स्रोत से प्राप्त ब्रह्मानन्द में दुःख-कण का भी होना नितान्त असंभव है। इससे स्पष्ट है कि लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस इन दोनों सुखों की प्रकृति अथवा स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न सुख 'धर्म' के फल-स्वरूप ही प्राप्त होते हैं। इससे यह मानना होगा कि इस धर्म का स्वरूप भी द्विविध होना चाहिए। एक ही अभिन्न एक-रस धर्म से भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव वाले फल पैदा होने असंभव हैं। वस्तुतः धर्म के दो अङ्ग माने भी गये हैं जिनमें से एक अङ्ग लौकिक सुख का कारण होता है तो दूसरा ब्रह्मानन्द को प्राप्त कराता है।

वेदविद् ऋषि-मुनियों ने धर्म के प्रतिपादक इन चारों वेदों को त्रयीविद्या कहा है। उनकी विषय-सामग्री को ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान के विभागों में विभक्त प्रतिपादित किया है। संसार के पदार्थों का ऋग्वेद रूप शब्द-प्रमाण से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, उन पदार्थों का यजुर्वेद-रूप शब्द-प्रमाण के अनुकूल धर्म-कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा सांसारिक विषय-सुखों की प्राप्ति करना मुख्योद्देश्य है। सामवेद द्वारा प्रतिपादित परमात्मा की उपासना भी एक कर्म ही है परन्तु यजुर्वेद-विहित कर्मकाण्ड बाह्य घृत, काष्ठ आदि साधनों से साध्य होता है जब कि परमात्मा का उपासना-कर्म बाह्य साधन-साध्य न होकर केवल आत्मा, मन, प्राण आदि अन्तःसाधन से साध्य होने से बाह्य-कर्म नहीं है जैसा अग्निहोत्रादि अश्वमेधान्त कर्म में होता है। इस बाह्य-कर्म में एक व्यक्ति के सुख एवं सर्वजन-हितकारी सुख के साधक विविध यज्ञमय कर्म सन्निविष्ट हैं परन्तु ये कर्म सांसारिक फलों की कामना की सिद्धि के लिए किए जाने से 'सकाम' कर्म कहाते हैं क्योंकि सांसारिक

---

१. छां० उप० ८, १२, १ : न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

कामनाओं की प्राप्ति के लिए ही किए जाते हैं, चाहे वे अपने ही लाभ के लिए हों या चाहे परोपकार को सामने रख कर किए हों। परन्तु ये ही वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्म इन सांसारिक कामनाओं को छोड़ कर केवल परमेश्वर की प्रीति को सामने रख कर कि ये कर्म मेरे स्वामी परमेश्वर को बहुत प्रिय हैं इस अपने प्रेम-विशेष से प्रेरित होकर अपने मालिक परमेश्वर की प्रीत्यर्थं, न कि सांसारिक सुखों के लिए, किये जाते हैं तो ये वैदिक कर्म निष्काम-कर्म की कोटि में आते हैं क्योंकि इनके अनुष्ठान से चित्त के राग-द्वेष आदि मल धुलते हैं और चित्त शुद्ध होता है जिससे चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है। धर्म के ये कर्म फल के भेद से सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के हैं। परन्तु उपासना-कर्म तो चूंकि परमेश्वर की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं, संसार की कामनाओं के लिए नहीं, अत: वे निष्काम ही होते हैं। यह अभी कहा गया है कि ये उपासना-कर्म केवल शरीर के अन्दर ही निहित बाह्यकरण, अन्तःकरण एवं प्राण-रूप साधनों से ही सम्पन्न किए जाते हैं। उपासना की विधि योग-शास्त्र में निश्चित की गई है। अस्तु ! यह भी कहा गया कि धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस सुखों का कारण है और इन दो प्रकार के परस्पर व्यतिरेकी फलों का जनक होने से वह दो प्रकार का है—सकाम कर्म और निष्काम कर्म। सकाम कर्म से संसार के 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति और निष्काम कर्म (जिसका एक अंग उपासना भी है) से निःश्रेयस की सिद्धि होती है। संसार के सुख को 'अभ्युदय' कहते हैं जब कि जन्म और मरण से मुक्त हुए पुरुष को जो परमानन्द प्राप्त होता है उसे 'निःश्रेयस' कहा जाता है। संसार में जो दु:ख हैं वह अधर्म का ही फल है।

क्या निष्काम कर्म-योग तथा उपासना-कर्म से साक्षात् रूप से जन्म-मरण से मुक्ति होती है ? नहीं। ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है[1]। उपासना-कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती हैं और उस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। यही एक-मात्र मार्ग है। वेदश्रुति की स्पष्ट घोषणा है—

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
> तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
>
> (यजु० ३१, १८)

अर्थात् मैंने सब से महान्, आदित्य के समान स्वयंप्रकाश एवं सारे जगत् को प्रकाशित करने वाले, अविद्यान्धकार और नानाविध क्लेश-कर्माशय

---

१. सांख्य-सूत्र ३, २३ : ज्ञानान्मुक्तिः।

से सर्वथा अछूते इस पुरुष-विशेष का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसके साक्षात् ज्ञान को पाकर ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है। इसको पाने का और कोई मार्ग नहीं है।

परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान करने पर ही परमानन्द-रूप अमृत का पान आत्मा करता है। इस साक्षात्कार के लिए निष्काम-भाव से उपासना-योग द्वारा जन्म-मरण से पार जाना आवश्यक होता है। श्रुति स्पष्ट कहती है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। (यजु० ४०, ६)

यहां परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान ही 'विद्या' है और 'अविद्या' का अर्थ निष्काम कर्म-योग और उपासना है। अविद्या का शब्दार्थ है—'विद्या से भिन्न परन्तु विद्या-सदृश'। निष्काम कर्म-योग एवं उपासना-योग ही ऐसा हो सकता है, अन्य नहीं। सकाम कर्म तो मृत्यु के पाश को ही दृढ़ करते हैं, वे मृत्यु से पार कराने वाले नहीं। इस प्रकार वेद से यह सिद्ध है कि निष्काम-भाव से संसार के कार्य करता हुआ पुरुष परमेश्वर की उपासना करे तभी अपने जीवन के ऐहलौकिक सुखों को भोगता हुआ जन्म-मरण के चक्र को तोड़ कर मुक्ति के परमानन्द को प्राप्त होता है। उपासना 'समाहित' मन से परमात्मा के समीप में बैठने को कहते हैं (उप=समीप, आसना=बैठना)। अतः जिज्ञासा होती है कि 'मन को समाहित' कैसे किया जाय? उसका उपाय क्या है? इसका एकमात्र उपाय 'योगाभ्यास' है जिससे चित्त को समाहित (=एकाग्र और निरुद्ध) किया जा सकता है। अतः जीवन के उभयविध लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास करना अनिवार्य है। अतः 'योग' का एक संक्षिप्त परिचय कराया जा रहा है—

[२]

योग क्या है ?

योग-विद्या के आचार्य महामुनि पतञ्जलि ने 'योग' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध कर देने की अवस्था ही 'योग' कहाती है (**योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः**)। इस कथन में तीन तत्त्व हैं—(१) चित्त, (२) उसकी वृत्तियाँ और (३) उनका निरोध। आत्मा (=जीवात्मा) स्वरूपतः चित्-स्वरूप (=ज्ञान-स्वरूप) है, चेतन है, जड़ नहीं। संसार के व्यवहारों को सम्पन्न करने के लिए करणों की आवश्यकता

होती है जिससे वह अपना कार्य कर सके। चेतन आत्मा में देखने की योग्यता है, परन्तु किसी वस्तु को देखने के लिए उसे आंख के द्वारा ही देखता है, उसके विना नहीं। उसमें सुनने की योग्यता है, परन्तु कान के विना नहीं सुन सकता। अतः सुनने के लिए कानों का होना आवश्यक है। इसी प्रकार चेतन आत्मा के पास चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ, पैर आदि पांच कर्मेन्द्रियां—ये दस करण हैं जो देखने, सुनने आदि तथा पकड़ने, चलने आदि शरीर से बाहर के व्यापारों को सम्पन्न करने के कारण 'बाह्य-करण' कहाते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के भीतर के कार्यों को सम्पन्न करने वाले चार करण—मन, अहंकार, चित्त और बुद्धि हैं जिनके द्वारा मनन (संकल्प), अभिमान, स्मरण और निश्चय के कार्य आत्मा करता है। इन चारों को **अन्तः-करण** कहा जाता है। योग-विद्या में इन चारों को सामान्य नाम 'चित्त' दिया गया है। यह भी ध्यान में रखना है कि चाहे बाह्य-करण हो अथवा अन्तःकरण हो—इन सब में 'बुद्धि' ही **प्रधान** है, क्योंकि अन्य सभी करण अपना-अपना किया कार्य (=देखना, सुनना, पकड़ना आदि तथा मनन, अभिमान आदि) 'बुद्धि' को समर्पित कर देते हैं जैसे कि शासन में विभिन्न मन्त्री लोग अपने-अपने विभागीय कार्यों को प्रधान-मन्त्री को अवगत कराते हैं। इस प्रकार बाह्य और अन्तःकरणों के सभी कार्य अन्ततः बुद्धि-तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं और यह बुद्धितत्त्व ही है जो चेतन आत्मा के साथ साक्षात्-सम्बन्ध में रहता है।

अभी ऊपर कहा गया है कि इसी बुद्धि-तत्त्व को योगशास्त्र में 'चित्त' नाम दिया गया है। इस चित्त की वृत्तियाँ ज्ञान-रूप हैं। संसार में दो ही तत्त्व हैं—चेतन और जड़। आत्मा और परमात्मा चेतन हैं। इनके अतिरिक्त प्रकृति जड़ है। चेतन कभी भी परिणत नहीं होता। वह सर्वदा परिणाम (change) से रहित रहता है जबकि प्रकृति और उससे उत्पन्न सभी पदार्थ परिणामी होते हैं। चूंकि चित्त प्रकृति का ही प्रथम परिणाम है अतः उसकी वृत्तियाँ उसका परिणाम होने से जड़ और परिणामी हैं। अब, ज्ञान सदा चेतन को ही होता है, जड़ को नहीं। इस अवस्था में जड़ एवं परिणाम-शील चित्त-वृत्ति (ज्ञान) अपरिणामी चेतन आत्मा को होनी कैसे संभव है? इसके समाधान के लिए योगाचार्यों का सिद्धान्त है कि ज्ञान-रूप चित्त-वृत्तियाँ सदा ही चेतन आत्मा के सन्निधान में होती हैं और चूंकि आत्मा में द्रष्टृत्व (देखने, भोगने=अनुभव करने की योग्यता) स्वभावसिद्ध है और बुद्धि (प्रकृति) में भी दृश्यता की (भोगे जाने की) योग्यता स्वभावसिद्ध है, इस स्वभावसिद्ध योग्यता-लक्षण सम्बन्ध से दोनों का संयोग विद्यमान है। इस सन्निधान-वश

ये चित्तवृत्तियाँ चेतन आत्मा में आरोपित हो जाती हैं। इससे चित्त के परिणाम-रूप ज्ञानों से अपरिणामी आत्मा अपने आप को ज्ञान वाला समझता है और दूसरी ओर आत्मा के चैतन्य से जड़ ज्ञान चेतयमान सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार चित्त के अन्य परिणाम सुख, दुःख, मोह, इच्छा, द्वेष आदि भी आत्मा में आरोपित होते हैं जिससे जीवात्मा अपने को सुखी, दुःखी, मोही आदि धर्मों वाला समझ लेता है। यह अविद्या का ही एक परिणाम है और इसको 'अस्मिता' कहते हैं। आत्मा और चित्त के बीच यह सन्निधि-कृत संयोग-विशेष इतना दृढ़ है कि उपनिषत्-कृत् ऋषियों ने इसे 'हृदय-ग्रन्थि' कहा है (कठ० २, ३, १५ ; मुं० २, २, ८)। इससे बंधे हुए संसार के शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि विषय-रूपी चरागाहों से आकृष्ट हुए इन्द्रियाश्व और जन्म-जन्मान्तरों से उपार्जित वासनाओं से वासित अन्तःकरण अपने साथ संयुक्त आत्मा को भी बलात् संसार की ओर खींचते रहते हैं। इससे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित न होकर चित्त की निरन्तर उत्पन्न होने वाली वृत्तियों से आबद्ध ही रहता है[1]। चाहे जाग्रत्-अवस्था में हो या गाढ सुषुप्ति अवस्था में हो अथवा स्वप्नावस्था में कल्पना-संसार में विचरता हो—हर अवस्था में चित्त की वृत्तियाँ उसको स्वरूप में नहीं रहने देतीं। इससे आत्मा संसाराभिमुख होकर संसार में विचरण करता हुआ जन्मता और मरता रहता है।

संसार के रूप, रस आदि विविध विषयों की ओर स्वभावतः आकृष्ट होने वाले इन्द्रिय-रूपी अश्व विषयास्वाद की खातिर शरीर-रूपी रथ पर स्थित आत्मा को खींचते हुए चले जाते हैं और निःश्रेयस के गन्तव्य के मार्ग से उसे प्रच्युत करके संसार के अभ्युदय से भी पृथक् करके बहुधा अधर्म-मार्ग की दलदल में फंसा देते हैं। इस से आत्मा लोक और परलोक दोनों से ही वञ्चित हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि बुद्धि-रूपी सारथि अपनी मन-रूपी लगामों को दृढ़ता से अभ्युदय और निःश्रेयस रूपी लक्ष्य को ले जाने वाले धर्म-मार्ग पर ही इन्द्रियाश्वों को ले जाय। इसी में मानव का कल्याण निहित है।

यदि मानव को अपने निःश्रेयस-रूपी विष्णु के परम-पद को पाना है—उस आदित्य-वर्ण महान् परमेश्वर पुरुष का साक्षाज्ज्ञान करना अनिवार्य है—**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**—तो इसके लिए, स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों की भांति, आत्मा में परमात्मा का प्रकाश हो, इस प्रयोजन

---

१. योगसूत्र २,२० : **द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।**

के लिए आवश्यक है कि चित्तवृत्तियों का आत्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो। इसके लिए दो कल्प संभव हो सकते हैं। एक यह कि चित्त ही न रहे। परन्तु क्लेश और कर्माशय के रहते चित्त का ही उच्छेद कर सकना असंभव है। तब केवल एक ही कल्प रह जाता है कि चित्त तो रहे, उसके रहते ही उसकी वृत्तियों का सर्वथा निरोध यदि कर दिया जाय तो ऐसा करने से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकेगा। योग इसी को लक्ष्य करके चित्तवृत्तियों का सर्वथा निरोध करने का उपाय बताता है। अत: इन चित्त की वृत्तियों का निरोध ही 'योग' कहा गया है (योगसूत्र, १, २ : **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**)।

चित्त की वृत्तियां यद्यपि असंख्येय हैं परन्तु उन सबको पांच वर्गों में रखा जा सकता है। यथा—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन त्रिविध प्रमाणों से प्राप्त हुए यथार्थ ज्ञान को प्रमाण-वृत्ति कहते हैं। परन्तु जो ज्ञान अयथार्थ होता है वह यथार्थ ज्ञान से बाधित हो जाता है उसे विपर्यय कहते हैं। संशय भी इसी के अन्तर्गत है। जो ज्ञान अर्थ-वस्तु से रहित होता है परन्तु शब्द से उत्पन्न होता है उसको विकल्प कहते हैं, यथा वन्ध्यापुत्र, शशश्रृङ्ग आदि। यह विकल्प न तो प्रमाण में आता है और न विपर्यय में। इससे संसार का व्यवहार चलता रहता है। निद्रा की अवस्था में भी चित्त की वृत्ति रहती है। वह वृत्ति अभाव का आलम्बन किए रहती है, जागने पर व्यक्ति कहता है कि 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा, सुख-पूर्वक सोया'। उसका यह स्मरण निद्रा-काल में हुए उसके अनुभव (वृत्ति) का प्रमाण है। पाँचवी वृत्ति स्मृति है, इसमें प्रमाण आदि चार वृत्तियों के अनुभवात्मक ज्ञान से उत्पन्न संस्कारों के जागने से स्मृति पैदा होती है। इस पांच वृत्ति-भेदों में सारी चित्त-वृत्तियां आ जाती हैं।

ये पाँचों वृत्तियाँ ज्ञान-रूप होती हैं। ज्ञान चित्त के परिणाम-रूप होते हैं। चित्त भी प्रकृति-जन्य होता है। वह प्रकृति भी सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों वाली होती है। चित्त इस त्रिगुण प्रकृति का विकार होने से त्रिगुण होने पर भी या तो सत्त्व-प्रधान होता है, या रज:-प्रधान होता है अथवा तमोगुण-प्रधान होता है और चूंकि चित्त-वृत्तियाँ चित्त-परिणाम रूप ही होती हैं अत: ये वृत्तियाँ चित्त के अनुसार सत्त्व-प्रधान, रज:-प्रधान अथवा तम:-प्रधान होती हैं। चित्त-वृत्तियों के निरोध-रूप 'योग' के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह भेद अत्यन्त महत्त्व का है क्योंकि

जो राजस या तामस वृत्तियां हैं वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक इन पांच प्रकार के क्लेशों को देने वाली (क्लिष्ट) होती हैं। अत: ये त्याज्य हैं। केवल सात्त्विक वृत्तियां ही क्लेशदायक नहीं होती (अक्लिष्ट) अत: वे ही ग्राह्य हैं। हमारे चित्त में सात्त्विक वृत्तियां उदित हों इसके लिए अनिवार्य है कि हमारा चित्त तमोगुण और रजोगुण से रहित होकर सात्त्विक रहे, तभी हमारे चित्त में सात्त्विक वृत्तियां उदित हो सकती हैं। तब हमारे लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने चित्त को पहिचानें कि हमारा स्वभाव किस प्रकार का है—तामस है, या राजस है या सात्त्विक है। इस पहिचान के लिए निम्न लक्षणों को देखकर निर्णय करना चाहिए।

सब से पहले यह जान लेना चाहिए कि सत्त्व-गुण का स्वभाव प्रकाश और लाघव वाला है। इसके विपरीत तमोगुण आवरण और गौरव स्वरूप वाला है। रजोगुण का स्वभाव चलत्व और दूसरे दोनों गुणों को प्रेरित करने वाला है। यह भी ज्ञातव्य है कि किसी एक गुण की प्रधानता में दूसरे दो गुण आपस में तुल्य बल वाले भी हो सकते हैं (जैसा कि विक्षिप्त चित्त में होता है) या न्यूनाधिक होने से गौण और प्रधान हो सकते हैं। स्वभावत: ये तीनों गुण परस्पर-विरुद्ध होने पर भी एक ही वस्तु में आत्मा के भोग और अपवर्ग (विवेक-ज्ञान) रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त रहते हैं। इस प्रक्रिया में इन तीनों गुणों में गुण-प्रधान-भाव आवश्यक होता है। कोई एक गुण प्रधान हो जाता है तो दूसरे दो गुण गौण हो जाते हैं। सत्त्व-गुण की प्रधानता को लेकर एक ही चित्त 'सात्त्विक' कहाता है, रजस् की प्रधानता से उसे 'राजस' कहते हैं, इसी प्रकार तमोगुण की प्रधानता से उसे 'तामस' कहते हैं[1]।

---

१. तीनों गुणों का विवेक मनुस्मृति के बारहवें अध्याय के अनुसार इस प्रकार जानना चाहिए कि सत्त्व का स्वभाव 'धर्म' का, रजोगुण का 'अर्थ' का और तमोगुण का स्वभाव 'काम' वाला होता है। इन धर्म, अर्थ और काम इन लक्षणों से भी गुणों का भेद बोधित होता है। जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्वगुण, जब अज्ञान रहे तब तमोगुण और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए। जब आत्मा में प्रसन्नता (मन प्रसन्न), प्रशान्त के समान शुद्धभान-युक्त वर्त्ते तब सत्त्वगुण प्रधान तथा रजोगुण और तमोगुण अप्रधान हैं। जब आत्मा और मन दुःख-युक्त, प्रसन्नता-रहित, विषय में इधर उधर गमन-आगमन में लगे तब समझना

सात्त्विक चित्त में रजोगुण का लेश-मात्र रहने पर इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार भाव उदित होते हैं। इसके विपरीत, तामस चित्त

कि रजोगुण प्रधान और सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं। जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में विवेक कुछ न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क से रहित, जानने के योग्य न हो तब निश्चित समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण और रजोगुण अप्रधान है (श्लोक २६-२९)।

जो वेदों का अभ्यास, तप (=धर्मानुष्ठान), ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म के कार्य और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्त्वगुण का लक्षण है। जब रजोगुण का उदय एवं सत्त्वगुण और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब आरम्भ में रुचिता, धैर्य-त्याग, असत्-कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों के सेवन में प्रीति होती है तभी समझना कि मुझ में रजोगुण प्रधानता से वर्त्त रहा है। जब तमोगुण का उदय और रजोगुण और सत्त्वगुण का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ (अर्थात् सब पापों का मूल) बढ़ता है, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, नास्तिकता (अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना), भिन्न-भिन्न अन्त:करण-वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से याचना, प्रमाद अर्थात् मद्यपान आदि दुष्ट व्यसनों में फंसना होवे तब समझना कि तमोगुण मुझ में बढ़ कर वर्त्त रहा है (३१-३३)। जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त हो तब जानो कि मुझ में प्रवृद्ध तमोगुण वर्त्त रहा है (३५)।

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता है और दरिद्रता होने पर भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता तब समझना कि मुझ में रजोगुण प्रबल है (३६)।

जब मनुष्य का आत्मा सब को जानने की इच्छा करे, गुण-ग्रहण करता जाय, अच्छे कर्मों से लज्जा न करे और जिस कर्म में आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण में ही रुचि रहे तब समझना कि मुझ में सत्त्वगुण प्रबल है (३७)।

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का लक्षण अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है (३८)।

में अधर्म, अज्ञान, राग और अनैश्वर्य के भाव पाये जाते हैं। इन सात्त्विक या तामस भावों के उदय होने के कार्य में चित्त में विद्यमान रजोगुण प्रेरणा करता है अन्यथा सत्त्व और तमस् में प्रवृत्ति न होने से उन भावों का उदय असम्भव हो जाता। रजोगुण प्रवर्तक होने से उन दोनों का उदय सम्भव कर देता है।

पीछे यह कहा गया है कि वाह्य एवं आभ्यन्तर करणों में बुद्धि की मुख्यता है। ज्ञान-रूप बुद्धि को प्रकाशरूप होने से स्वभावत: सत्त्वगुण-प्रधान ही होना चाहिए। परन्तु अनादि अविद्या आदि क्लेश और कर्मों की वासना के कारण बुद्धि के राजस और तामस होने से चित्त में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता का कालुष्य अपना पैर जमा लेता है। चित्त सामान्यत: पांच प्रकार के होते हैं—मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। एकाग्र और निरुद्ध चित्त योगियों के होते हैं। शेष तीन चित्त संसारी जनों के होते हैं। जब चित्त में तमोगुण की प्रबलता से उसके सत्त्व और रजोगुण दब जाते हैं तो चित्त में कुछ भी नहीं सूझता, तब अभाव का आलम्बन लेकर चित्त की वृत्ति निद्रा वाली जैसी होती है। इस तरह के चित्त को 'मूढ' कहते हैं। यह वृत्ति समाधिरूप योग की विरोधिनी होने से सर्वथा हेय है। जब रजोगुण का प्रावल्य होता है तो सत्त्व और तमोगुण दब जाने से चित्त अति चञ्चल हो जाता है और किसी भी विषय में स्थिर नहीं हो पाता। इस प्रकार के चित्त को 'क्षिप्त' कहा जाता है। यह भी 'योग' की विपरीत अवस्था है। जब चित्त में सत्त्वगुण प्रधान होता है और रजोगुण और तमोगुण उससे कुछ न्यून होते हैं परन्तु साथ ही ये दोनों आपस में बराबर मात्रा में रहते हैं तब चित्त को 'विक्षिप्त' कहा जाता है। क्योंकि यह सत्त्वगुण-प्रधान है इस कारण यह रज:-प्रधान 'क्षिप्त' से विशिष्ट होने से 'विक्षिप्त' कहा गया है। क्षिप्त चित्त से इसकी विशेषता यह है कि प्राय: अस्थिर रहने वाले चित्त में यदा-कदा स्थिरता हो जाती है। यही सदा अस्थिर रहने वाले क्षिप्त चित्त से इसका भेद है।

विक्षिप्त चित्त की अस्थिरता चित्त के स्वभाव के तथाविध होने से हो भी सकती है अथवा व्याधि, स्त्यान आदि ९ अन्तरायों (योग-सूत्र १, ३०) के कारण भी हुई हो सकती है। इस विक्षिप्त अवस्था में कभी-कभी होने वाली स्थिरता के आधार पर उस समय के चित्त की निरोधावस्था को लेकर इस अवस्था को योग नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस में विक्षेप-बाहुल्य के बीच कभी-कभी थोड़ी देर के लिए होने वाली निरोध-रूप वाली समाधि का

पता भी लगना जब मुश्किल होता है तो उसकी कार्यकारिता तो दूर की बात है। अतः इस अवस्था को भी योग नहीं माना जा सकता।

द्विविध-योग :

योग चित्त की वह अवस्था है जिसमें योगाङ्गों के अनुष्ठान से उसके तामस और राजस परिणाम (वृत्तियां) तो निरुद्ध हो जाते हैं परन्तु इस निरोध से विशुद्ध सत्त्व-प्रधान चित्त का अब केवल ध्येय-विषयक सात्त्विक परिणाम होता है। इसे चित्त की 'एकाग्र' अवस्था कहते हैं। इस में तामस, राजस चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाने से इसे 'योग'(=समाधि) कहते हैं। इस अवस्था में ध्येय वस्तु पर चित्त समाहित होता है। विक्षिप्त अवस्था में तो रजोगुण और तमोगुण के कारण यह एकाग्रता संभव नहीं थी। परन्तु अब इस एकाग्र (=समाहित) विशुद्ध सत्त्वप्रधान चित्त में, उस के एकाग्र-परिणाम-स्वरूप, वस्तु-स्वरूप का यथार्थ साक्षात् ज्ञान होता है[1]। अनुमान अथवा आगम से होने वाले ज्ञान में वह सामर्थ्य नहीं होती जो प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध अविद्या को नष्ट कर सके। द्वि-चन्द्रदर्शन, दिङ्-मोह आदि प्रत्यक्ष-ज्ञानों का विनाश अनुमान या आगम नहीं कर पाते। केवल जब एक चन्द्र या वास्तविक दिशा-ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है तभी पहला प्रत्यक्ष अज्ञान नष्ट होता है। समाहित चित्त में सद्-भूत अर्थ का प्रत्यक्ष होने से अविद्या का उच्छेद हो जाता है क्योंकि विद्या अविद्या को नष्ट कर देती है। अविद्या का नाश होने से अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश का भी क्षय हो जाता है। कर्मों के बन्धन भी ढीले होने से अपने फल देने में अशक्त रहते हैं। एकाग्र-चित्त की इस समाधि को 'संम्प्रज्ञात योग' कहा जाता है[2]। अविद्यादि क्लेश, कर्मादि के कारण-भूत राजस-तामस चित्त-वृत्तियों का निरोध होने से यह योग कहाता है। इस संप्रज्ञात समाधि में विशुद्ध सात्त्विक चित्त की वृत्तियां विद्यमान रहती हैं। जब ये सात्त्विक चित्त-वृत्तियां भी निरुद्ध हो जाती हैं तो यह योग 'असंप्रज्ञात' कहाता है।

---

१. यद्यपि निद्रा-वृत्ति में भी चित्त की एकाग्रता होती है परन्तु वह निद्रा-वृत्ति तामस होने में इतर वृत्तियों के समान निरोधनीय ही होती है। यह एकाग्रता तो विशुद्ध सात्त्विक चित्त से संभूत होने से अभीष्ट ही है।

२. सम्यक्=संशय-विपर्ययादिराहित्येन, प्रज्ञायते=साक्षात् क्रियते ध्येयं वस्तु यस्मिन् निरोधे चित्तावस्था-विशेषे स सम्प्रज्ञातो योगः।

तामस और राजस चित्त-वृत्तियों का निरोध--

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि चित्त में रजोगुण और तमोगुण के रहते समाधि-रूप योग का होना असंभव है। अत: चित्त को एकाग्र करने हेतु क्या उपाय किया जाय, यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। योगसूत्र (१, १२) ने चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय योगाङ्गों का अनुष्ठान और वैराग्य वताया है। इन दोनों से सभी वृत्तियां रोकी जा सकती हैं। वैराग्य के द्वारा सांसारिक विषयों का स्रोत सुखाया जाता है जवकि प्रकृति-पुरुष की विवेक-ख्याति के लिए किये गये अष्टाङ्ग योग के अभ्यास द्वारा विवेक का स्रोत खोला जाता है। अत: वैराग्य और योगाभ्यास दोनों का अनुष्ठान आवश्यक है। परन्तु एक सामान्य व्यक्ति सीधा सांसारिक विषयों से विमुख होकर वैराग्य-युक्त होकर विवेक-दर्शन का अभ्यासी नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्ति के लिए पतञ्जलि मुनि ने 'क्रिया-योग' का मार्ग वताया है जिसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का अनुष्ठान विहित किया गया है। भूख-प्यास, शीत-उष्ण, स्थान-आसन, काष्ठमौन-आकारमौन इन द्वन्द्वों का सहन करना तथा कृच्छ्र-चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रतों का अनुष्ठान करना 'तप' है। व्यासमुनि का कथन है कि चित्त की अशुद्धि जो अनादि कर्म एवं क्लेशों की वासना के और उपस्थित होने वाले ऐन्द्रियिक विषयों के जाल के कारण अत्यन्त सान्द्र वन चुकी होती है, तपोऽनुष्ठान के विना उसको शिथिल कर लेना असंभव है। अत: तपोऽनुष्ठान अनिवार्य है, जो तप नहीं करता उसे योग भी सिद्ध नहीं होता। परन्तु तप उतना ही करना ठीक है जिस से शरीर के स्वास्थ्य की हानि न हो और चित्त प्रसन्न रहे॥ दूसरा उपाय 'स्वाध्याय' है। इसका अर्थ है कि प्रणव एवं गायत्री आदि पवित्रता-प्रदान करने वाले मन्त्रों का जप करना तथा मोक्ष-शास्त्र (=वेद, उपनिषद्, वेदान्त) का अध्ययन करना—यह स्वाध्याय कहाता है। इससे भी चित्त की शुद्धि प्राप्त होती है॥ ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है अपने सभी कर्मों को परम-गुरु परमेश्वर को समर्पित कर देना अथवा उन कर्मों के फल को त्याग कर देना, अर्थात् कर्मफल की इच्छा त्याग कर निष्काम-भाव से परमेश्वर की प्रीत्यर्थ परोपकार के कार्यों का अनुष्ठान करना। इस त्रिविध कर्मयोग से दीर्घ तक निरन्तर सेवन करने से चित्त की तमोगुण एवं रजोगुण की अशुद्धि दूर करने से चित्त-शुद्धि होती है। इससे सात्त्विक चित्त में समाधि उत्पन्न होती है।

परन्तु इस तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूप कर्म-योग का अनुष्ठान चित्त में अनादि जन्मों से सञ्चित और जमी हुई रजोगुण और

तमोगुण की तहों का उच्छेदन तभी कर सकता है जब कर्म-योग को वशीकार-वैराग्य का सहकार प्राप्त हो। पहले बताया जा चुका है कि जब तक विषयों के स्रोत को वैराग्य की दृढ़ भावना द्वारा सुखाया न जाय तब तक पुरुष-विवेक के स्रोत के केवल अभ्यास द्वारा उद्घाटन करने का प्रयत्न व्यर्थ ही रहेगा। राग-द्वेष से उद्भूत विषय-जलों के द्वारा विवेक-स्रोत विप्लावित होता रहेगा अतः कर्मयोग द्वारा विवेक-स्रोत को खोलने की सार्थकता तभी है जब कर्मयोग के साथ-साथ वशीकार-संज्ञक वैराग्य की सहायता भी ली जाय। चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य दोनों का अनुष्ठान आवश्यक है, किसी एक से सफलता होनी अशक्य है।

वशीकार-संज्ञक वैराग्य वह है जिस में अन्न-पान, स्त्री और ऐश्वर्य-रूप चेतन-अचेतन लौकिक विषयों और परलोक स्वर्ग, विदेह और प्रकृति-लय जैसे शास्त्रोक्त विषयों की तृष्णा चित्त से उठ जाय और इन विषयों के उपस्थित होने पर भी चित्त इनके प्रति उपेक्षाभाव से रहता हो तो इसे ही वशीकार-वैराग्य कहते हैं। इसी वैराग्य की सहायता से कर्मयोग का अनुष्ठान इतना समर्थ हो जाता है कि अतिसान्द्र तमोगुणी और रजोगुणी (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) क्लेशों का बल कमजोर हो जाता है। यही क्लेशों का 'तनूकरण' कहा गया है क्योंकि इस अवस्था में ये दुर्बल हो जाते हैं। रजोगुण और तमोगुण उन्हें बलवान् बनाते हैं। इनके रहते चित्त विक्षिप्त रहता है, उसमें एकाग्रता नहीं रहती। परन्तु जब रजोगुण और तमोगुण उच्छिन्न होने पर क्लेश दुर्बल हो जाते हैं तब दुर्बल हुए वे क्लेश अब विवेक-ख्याति में बाधा नहीं डाल पाते। चित्त में सत्त्वगुण की शान्ति होने से विक्षिप्तता से पीछा छुड़ा कर वह एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है। एकाग्रता की अवस्था में स्थित अभ्यासी पुरुष जब प्रतिदिन अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान करता है तो सम्प्रज्ञान-समाधि सिद्ध हो जाती है।

साथ ही, इस क्रियायोग से अविद्यादि सभी क्लेश, जो प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेक-ख्याति में प्रतिबन्धक होते हैं, जब दुर्बल हो जाते हैं तो उससे ख्याति में प्रतिबन्धक बनने में असमर्थ हो जाते हैं। इससे विवेक-ख्याति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अभी पीछे कहा गया है कि योगाङ्गों के अनुष्ठान से विवेक-ख्याति (ज्ञान) का स्रोत खोला जाता है परन्तु साथ ही यह भी आवश्यक है कि वैराग्य के अनुष्ठान से विषयों के महास्रोत को सुखाना भी परमावश्यक है। अन्यथा राजस एवं तामस चित्त-वृत्तियों का

निरोध सर्वथा अशक्य रहेगा। वैराग्य के लिए विषयों की अनित्यता तथा अहित-कारिता का दृढ़ निश्चय करके जिस प्रकार के जो विषय अपने राजस अथवा तामस चित्त में उदित होते हों, उनका अति दृढ़ संकल्प के साथ उच्छेद करना चाहिए और उनके विरोधी सात्त्विक भावों का अनुष्ठान भी करना चाहिए। यह वैराग्य की आरम्भिक अवस्था है जिसे 'यतमान-संज्ञा' नाम से जाना जाता है। इस यतमान-संज्ञा के अनुष्ठान के लिए मैत्र्यादि की भावना आवश्यक है। उससे चित्त की शुद्धि होती है क्योंकि इस मैत्र्यादि-भावना से मलों का क्षालन होता है।

इस विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि चित्त में राग, द्वेष आदि राजस और तामस दोष चित्त के मल माने जाते हैं। ऐसे मल छः (६) हैं—राग, द्वेष, ईर्ष्या, परापकारचिकीर्षा, असूया और अमर्ष। सुख के अनुभव के फलस्वरूप उस पदार्थ के प्रति उसकी प्राप्ति की इच्छा रहती है उसे राग कहते हैं (सुखानुशयी रागः) और जिस वस्तु से जिसको दुःख प्राप्त हुआ हो तो उसके प्रति उसके मन में उस पदार्थ से बचने के लिए जो अनिच्छा का भाव पैदा होता है उसे द्वेष कहते हैं। ये दोनों क्रमशः काम और क्रोध के रूप हैं और राजस और तामस स्वरूप वाले हैं। दूसरे व्यक्ति के उत्कृष्ट गुण या सम्पदा को देख कर जो मन में क्षोभ पैदा होता है उसे 'ईर्ष्या' कहते हैं। दूसरे को हानि पहुंचाने की इच्छा परापकार-चिकीर्षा है। दूसरे के प्रशंसनीय गुणों में दोषारोपण करने को 'असूया' और अपने प्रति दुर्वचन एवं कर्म को सुन और देख कर उसका सहन न कर सकना 'अमर्ष' है। ये छः भाव चित्त को मलिन करते रहते हैं। गदले पानी को निर्मल करने के लिए जैसे कतकी-फल का प्रयोग होता है उसी प्रकार इन मलों को हटा कर चित्त में निर्मलता लाने के लिए पतञ्जलि मुनि ने मैत्री आदि की भावना का उपदेश किया है। तदनुसार सुखी व्यक्ति को देख कर उसके प्रति मित्रता का भाव और व्यवहार करने से ईर्ष्या का दोष चित्त से दूर हो जाता है। दुःखी को पाकर उसके ऊपर करुणा का भाव रखते हुए उसके दुःख को यथाशक्ति दूर करने के प्रयत्न से परापकार-चिकीर्षा और द्वेषभाव दूर होते हैं। किसी पुण्यात्मा को देख कर उसके प्रति प्रसन्नता का भाव रखने से 'असूया' का दोष चित्त से दूर होता है। परन्तु और किसी को पापात्मा पाये तो घृणाभाव न करके उसके प्रति उपेक्षा का भाव और व्यवहार करे। इन उपायों के वर्त्तन से चित्त के तामस और राजस मल धीरे-धीरे दूर होकर चित्त में सत्त्वगुण का प्रकर्ष एवं प्रसन्नता रहती है। रजोगुण

और तमोगुण से छुटकारा पाकर सत्त्वगुण का सम्प्रज्ञात-रूप समाधि-योग सुलभ होता है।

इस मैत्र्यादि-भावना के बिना चित्त शुद्ध नहीं हो पाता उसके शुद्ध न होने की अवस्था में समाधि के लिए किए गये उपाय व्यर्थ होते हैं। अतः योगाभ्यासी को चित्त-शुद्धि के लिए व्यवहार में मैत्र्यादि की भावना का अनुष्ठान करना अनिवार्य है। तभी चित्त प्रसन्न होकर एकाग्र हो पाता है।

इस यतमान-संज्ञक वैराग्य के निरन्तर अनुष्ठान से कुछ दोष पक हो गए होंगे जबकि कुछ विषय अभी रह रहे होंगे। इस प्रकार के पक चुके विषयों से अपक्वों को अलग करके देखना चाहिए कि अमुक दोष अभी पाचन के लिए रहते हैं। इस प्रक्रिया को 'व्यतिरेक-संज्ञा' कहते हैं। अब ये पके दोष इतने दुर्बल हो चुके होते हैं कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति नही कराते, परन्तु फिर भी मन में सूक्ष्म रूप से रहते हैं। अवसर पाकर वे फिर सबल होकर इन्द्रियों की प्रवृत्ति में सक्रिय हो सकते हैं। इस अवस्था को 'एकेन्द्रिय-संज्ञा' से जाना जाता है। जब वैराग्याभ्यासी के मन में स्थित विषयों—चाहे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्त्री, अन्नपान, ऐश्वर्य आदि (दृष्ट लौकिक) हों अथवा स्वर्ग, विदेह, प्रकृतिलय आदि अलौकिक हों—इन दिव्य एवं अदिव्य विषयों की उपस्थिति होने पर भी उनकी अनित्यता एवं अहितकारिता के ज्ञान के बल पर अभ्यासी का मन इनमें भी विरक्त हो जाता है और इन्हें पाकर भी इनके विषय में अत्यन्त उपेक्षाभाव रखता है तब इस प्रकार के वैराग्य को 'वशीकार-संज्ञा' कहा जाता है। इस वैराग्य के द्वारा ही विषयों के साथ बंधी हुई तामस तथा राजस चित्तवृत्तियों का निरोध हो पाता है। यतमान, व्यतिरेक-संज्ञा एवं एकेन्द्रिय वैराग्यों से निरोध नहीं होता। परन्तु इनके हुए विना वशीकार-संज्ञा वैराग्य का होना असंभव है।

इस प्रकार एक ओर तो तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान के कर्मयोग का यथावत् अनुष्ठान किया जाता है तो दूसरी ओर वैराग्य-भावना सिद्ध की जाती है। कर्मयोग से अविद्या आदि सभी क्लेशों को दुर्बल कर दिया जाता है और दूसरी ओर चित्तशुद्धि के सम्पादन के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि की जाती है।

विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर क्रियायोग से दुर्बल हुए इन क्लेशों का बीजभाव नष्ट हो जाता है (योगसूत्र २,११)। इससे उनका कार्य नहीं हो

पाता। तब इनका और कुछ नहीं करना होता। केवल असम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा रहती है। उसमें सात्त्विक-रूप के भी 'पर' वैराग्य के द्वारा निरुद्ध हो जाने से सर्ववृत्ति-निरोध होने से चित्त का ही निरोध हो जाता है। चित्त के आश्रय में पड़े क्लेशों का भी निरोध स्वयं ही हो जाता है[1]।

यह स्पष्ट किया गया है कि क्रियायोग के द्वारा क्लेशों के दुर्बलीकरण और उस दुर्बलीकरण के फलस्वरूप वैराग्य और योगाभ्यास के निरन्तर अनुष्ठान से चित्त की एकाग्रता होकर सम्प्रज्ञात-नामक समाधि सिद्ध होती है। इसमें सात्त्विक चित्त के एकाग्र और शान्त होने से उस चित्त में जो प्रमाणादि वृत्तियां (ज्ञान) उदित होती हैं वे यथार्थ अर्थ का साक्षात्कार कराती हैं, अविद्या आदि क्लेशों का नाश कराती हैं क्योंकि यथार्थ साक्षात्ज्ञान-रूप विद्या से अविद्या का विनाश अवश्यम्भावी है। अविद्या-क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले अस्मिता आदि क्लेश भी विलीन होने लगते हैं। क्लेशों का अभाव होने पर तन्मूलक पुण्य-अपुण्य रूप कर्माशय के वन्धन भी शिथिल हो जाते है और आगे की चित्त की निरोधावस्था सामने आने लगती है। यह सम्प्रज्ञात-समाधि है। इसमें वैराग्यानुगृहीत अभ्यास की प्रकर्षता के अनुसार जैसा-जैसा समाधि का प्रकर्ष बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे उस सात्त्विक चित्त से स्थूल-भूत से लेकर प्रकृति-पर्यन्त पदार्थों का साक्षात्कार योगी करता है। इस सिलसिले में चार पड़ाव हैं—(१) वितर्क (२) विचार (३) आनन्द और (४) अस्मिता। इसके सम्बन्ध से सम्प्रज्ञात-समाधि भी—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत

---

१. अविद्या से उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये चार क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्था वाले होते हैं। विदेह और प्रकृति-लय लोगों के क्लेश प्रसुप्त दशा में रहते है। क्रियायोग द्वारा दुर्बल किए गए क्लेश 'तनूकृत' कहाते हैं। किसी सजातीय या विजातीय क्लेश से दूसरे को दवा दिए गए क्लेश को उच्छिन्न=(अभिभूत) कहते हैं—ये तीनों भविष्य में लब्ध-वृत्ति होते हैं। परन्तु वर्तमान काल में लब्ध-वृत्तिक क्लेशों को उदार कहते हैं। संसारी जनों के क्लेश विच्छिन्न और उदार होते हैं। क्रियायोग से तनूकृत क्लेशों की 'वृत्ति' प्रसंख्यान से नष्ट हो जाती है क्योंकि इससे इन क्लेशों का बीज-भाव दग्ध हो जाता है। जब असंप्रज्ञात समाधि के आसेवन से जब चित्त के भोग और अपवर्ग पूर्ण हो जाते हैं तब चित्त का उसके कारण में विलय हो जाता है और इस प्रकार आत्मा मुक्त हो जाता है।

(३) आनन्दानुगत और (४) अस्मितानुगत इन चार भेदों वाली होती है। वितर्कानुगत समाधि में चित्त में धारित स्थूल भूत-भौतिक पदार्थों का यथार्थ साक्षात्कार होता है जबकि समाधि के प्रकर्ष के अनुसार विचारानुगत समाधि में उन से सूक्ष्म 'तन्मात्रों' का साक्षात्कार किया जाता है। इन दोनों को 'ग्राह्य-समापत्ति' के नाम से कहा जाता है। आनन्दानुगत समाधि में भूत-सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परन्तु अस्मिता से स्थूल ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का साक्षात्कार होता है। इसे 'ग्रहण-समापत्ति' कहते हैं। अस्मिता उस अहंकार-सहित बुद्धि को कहते हैं जो पुरुष से अभिन्न जैसी दीखती है। अस्मिताख्य सम्प्रज्ञात समाधि में अस्मिता का साक्षात्कार चित्त में होता है। इसको 'ग्रहीतृ-समापत्ति' कहते हैं। इनमें से प्रथम दो ग्राह्य-समापत्तियों में प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। वितर्क के 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' भेद हैं। विचार के भी 'सविचार' और 'निर्विचार' भेद हैं। सवितर्क वह है जहां स्थूल-विषयक साक्षात्कार में शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद बना रहता है। परन्तु जब यह भेद नहीं रहता और इससे शुद्ध 'वस्तु-मात्र' का निर्भास होता है तब उस अवस्था को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इसी प्रकार 'सविचार' समापत्ति में जब सूक्ष्म विषय के साक्षात्कार में देश, काल तथा कारण से युक्त जो गन्ध-तन्मात्र आदि सूक्ष्म विषय का भेद बना रहता है तब वह 'सविचार' कहाती है। परन्तु जिस समापत्ति में सूक्ष्म-विषय में उसके देश, काल तथा निमित्त एवं शब्द भी विषय के साक्षात्कार में अनुभव में नहीं आते, केवल अर्थमात्र ही वृत्ति में आता है, उस समापत्ति को निर्विचारा कहते हैं। निर्विचारा समापत्ति सविचारा से अधिक सूक्ष्म होती है—सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम क्रम से। तदनुसार गन्ध-तन्मात्र आदि पांच तन्मात्रों से अहंकार सूक्ष्म है। अहंकार से महत्तत्व और महत्तत्व से प्रकृति सूक्ष्म है। इसी क्रम से सूक्ष्म-विषयक सविचारा और निर्विचारा समापत्तियां सिद्ध होती है।

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म ग्राह्य विषय में दो-दो भेदों को लेकर चार ग्राह्य समापत्तियां होती हैं—सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा। ये चारों ग्राह्य-समापत्तियाँ सबीज समापत्तियां कही जाती हैं। क्योंकि ये सालम्बन होती हैं अथवा इनमें संसार के बीज (अनादि क्लेश एवं कर्मों की वासना) विद्यमान रहते हैं।

इनमें से अन्तिम 'निर्विचार' समापत्ति में रजस्तमोरूप मलों से रहित चित्त-सत्त्व के सत्त्वगुण की निर्मलता जब बढ़ती जाती है तब अध्यात्म की

निर्मलता भी बढ़ती जाती है। इस निर्मलता में प्रकृति-पर्यन्त सूक्ष्म ग्राह्य-विषय अत्यन्त स्पष्टता के साथ यथावत् प्रत्यक्ष होते हैं। निर्विचार समाधि की इस निर्मलता के सिद्ध होने पर प्रकृति और उससे उत्पन्न सूक्ष्म एवं स्थूल विकारों को तत्त्वतः देखता हुआ योगी अपने आत्मा को उनसे अलग रूप में देखता है। इसे ही 'सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति' अथवा 'विवेक-ख्याति' कहते हैं। इसे 'ज्ञान-प्रसाद' और 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' भी कहा जाता है क्योंकि इस निर्मलता से जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह सत्य (ऋत) को ही धारण करती है, उसमें असत्य की गन्ध भी नहीं होती। इस सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप ज्ञानाग्नि से अविद्या आदि क्लेश जो कर्मयोग से दुर्बल हो गए थे परन्तु समय पाकर सबल हो सकते थे—उन क्लेशों का इस ज्ञानाग्नि से बीजभाव दग्ध हो जाता है। अब इनका प्ररोहण कभी नहीं हो सकता।

यही सम्प्रज्ञात समाधि की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। परन्तु यह ख्याति (=ज्ञान) भी तो चित्तवृत्ति-रूप ही होती है। चित्तवृत्ति जैसी भी क्यों न हो, अन्ततः है तो प्राकृतिक ही। प्राकृतिक जो भी है वह त्रिगुण-रूप ही होता है, सुख-दुःख-मोह रूप ही होता है—जो अभीष्ट नहीं है। अतः योगी इस ख्याति से भी छुटकारा पाना चाहता है। वह त्रिगुण-मात्र से वितृष्ण हो रहा है। ख्याति से भी अब उसे वैराग्य है। इस वैराग्य को ही 'पर-वैराग्य' कहा जाता है। इस पर-वैराग्य से वह 'ज्ञान-मात्र' को भी छोड़ देता है। इससे चित्तसत्त्व वृत्ति-मात्र से रहित हो जाता है। इसकी सभी वृत्तियां सर्वथा निरुद्ध हो गई हैं। इसे ही 'असंप्रज्ञात-योग' कहते हैं। इसे ही 'निर्बीज समाधि' भी कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में संसार के बीजभूत क्लेशों और कर्मों की वासनाओं का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल निरोध का संस्कारमात्र ही शेष रह जाता है। यह संस्कारमात्र-शेष चित्त रह गया है। उसकी वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो गया है। इससे चित्त स्वरूपतः और पररूपतः अवस्थित न होने से आलम्बन-रहित हुआ मानो न होने के तुल्य ही होता है। न होने के तुल्य हुए चित्त से छुटकारा पाकर आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है और 'केवल' कहाता है। आत्मा की यह कैवल्यावस्था योग की पराकाष्ठा है। अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ पुरुष अब अपने स्वरूप से ही ब्रह्म का दर्शन करता हुआ ब्रह्मानन्द का भोग करता है। उसके सञ्चित कर्म ज्ञानाग्नि से दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाने से अङ्कुरित नहीं हो पाते। उसके निष्काम क्रियमाण कर्म फल को प्राप्त नहीं करते। जैसे पुष्कर-पलाश पर पड़ा जल-बिन्दु पलाश से श्लिष्ट नहीं हो पाता उसी प्रकार

आत्मविद् के कर्म उससे श्लिष्ट नहीं हो पाते। प्रारब्ध कर्मों को भोगने पर यह ब्रह्मवित् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्मानन्द का भोग करता है। कहा भी है—

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वे० उप० २, १५)

अर्थात् योगी जब योग-युक्त होकर दीप-तुल्य आत्म-तत्त्व से ही ब्रह्म-तत्त्व का दर्शन करता है जो अजन्मा, अचल और सभी तत्त्वों से विशुद्ध है, तब उस प्रकाशस्वरूप देव को जान कर संसार के सभी पाशों से छूट जाता है, मुक्त हो जाता है।

यही जीवात्मा का परम उद्देश्य है, विष्णु का परम पद यही है। इससे परे कुछ नहीं है। 'योग' का भी यही परम लक्ष्य है।

—वीरेन्द्र शर्मा
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,
साधु आश्रम, होशियारपुर (पं०)

अथ सम्पूर्ण-योगः

ईश-प्रार्थना

ओ३म् यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व॒र्यस्य॑ च॒ केव॑लं तस्मै॑ ज्ये॒ष्ठाय॒ ब्रह्म॑णे॒ नमः॑ ॥
(अ० १०. ८. १)

(यः) जो (भूतं च भव्यं च) भूत और भविष्यकालीन (यः च) और वर्तमान-कालीन (सर्वम्) इन सब पदार्थों का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है और (यस्य) जिसका (स्वः) आनन्द-स्वरूप ही (केवलम्) कैवल्य है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म को मेरा नमस्कार है ।

परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का ईश है और वही कैवल्यधाम है, आनन्द से परिपूर्ण वही है ।

प्रथम विवेक

सम्पूर्ण योग क्या है ?

योगे मोक्षे च सर्वासां, वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा, योगो मोक्षप्रवर्तकः ।।
(चरक-संहिता, शारीरस्थान, १. १३७)

अर्थ— योग और मोक्ष में सब दुःखों का अभाव हो जाता है। दुःखों की निःशेष निवृत्ति ही मोक्ष है और योग उस मोक्ष का मार्ग है।

पाठकवृन्द !

प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा जो धर्म मानव-जाति के उद्धार के लिए प्रकाशित हुआ, उसमें 'योग-साधन' को प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानव-धर्म से योग-साधन को पूर्णतया हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्व की बात ही नहीं रह जायगी । योग-साधन का महत्त्व अपने सनातन वैदिकधर्म में बताया गया है।

अगर अपनी भाषा का निरीक्षण किया जाय तो उसमें भी योग की सार्वत्रिक उपयोगिता का पता लगता है। भाषा में प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग इत्यादि अनेक शब्द प्रयोग में आते हैं। ये सब भी 'योग' ही हैं। यदि इन योगों का उपयोग भाषा में न किया जाय तो भाषा कितनी अधूरी हो जायगी। इस बात का ज्ञान प्रत्येक भाषाभाषी को सहज में ही हो सकता है। भाषा में योग का यह सार्वत्रिक प्रयोग सिद्ध करता है कि भाषा की पूर्णता के लिए 'योग' की अत्यन्त आवश्यकता है।

आर्य्य वैद्यक में औषध-योजना को 'योग' कहते हैं। ज्योतिष शास्त्र में ग्रहों के योग को भी 'योग' कहा जाता है। गणित-शास्त्रमें भी 'योग' है। इस तरह देखा जाय तो योग के विना कोई शास्त्र नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जायगी। योग की व्यापकता यहाँ तक है कि 'वियोग' में भी 'योग' की आवश्यकता है। फिर 'संयोग' में आवश्यकता है—यह कहने की तो आवश्यकता ही क्या है?

इस तरह भारतीय ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियों ने योग का मानव-जीवन के साथ अटूट सम्बन्ध देखा और अनुभव भी किया था। इस समय में भी प्रत्येक व्यक्ति को इस अटूट सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए।

सभी शास्त्रों में 'योग' कहा गया है। पातञ्जल योग-दर्शन में 'योग-साधन' का ही विचार किया गया है। कपिल मुनि के सांख्य-दर्शन में भी 'सांख्य-योग' कहा है, पूर्वमीमांसा में 'कर्मयोग' कहा है, उत्तरमीमांसा में 'ब्रह्मयोग' है, श्रीमद्भागवतादि पुराणों में भी 'भक्तियोग' है। इस तरह अनेक ग्रन्थकार इस योग-तत्त्व का विवेचन करने में ही प्रवृत्त हुए दीखते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि सब आर्य्य-शास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य यही है कि धर्म-जिज्ञासुओं के मन में इस योग-तत्त्व को स्थिर कर दिया जाय।

इतना प्रयत्न होने पर तो हम सब वैदिक सनातन-धर्मियों के मन में योग की प्रवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु देखी नहीं जाती। विरले ही कोई योग-साधन में लगते हैं, बाकी लोग वैसे ही कोरे रह जाते हैं, जैसे मानो योग के प्रचार के लिए कोई प्रयत्न ही न हुआ हो। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का विचार करने का समय आ गया है। जो लोग धार्मिक हैं, उन्हें इसका विशेष विचार करना चाहिए।

हमारे विचार में इसका मुख्य कारण है 'सम्पूर्णयोग की अवहेलना और अपूर्ण योग की ओर अधिक झुकाव'। प्रायः लोग समझते हैं कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि सब योग एक दूसरे से पृथक् हैं और

एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार इतना दृढ़ हो गया है कि योगमार्ग का अनुसरण करने वाले साधक भी अपने आपको दूसरों से पृथक् समझते हैं। अर्थात् भक्तिमार्गी लोग अपने आपको हठयोगियों से पृथक् समझते हैं। इसी तरह ज्ञानमार्गियों का कर्ममार्गियों से विरोध है और यह विरोध ग्रन्थों में भी स्पष्ट दिखायी देता है।

क्या भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि मार्ग परस्पर विरोधी हैं? क्या दूसरे मार्ग का स्पर्श भी न कर केवल भक्ति, केवल कर्म अथवा केवल ज्ञान का अनुष्ठान होना सम्भव है? हमारे विचार से सम्भव नहीं है। परन्तु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग का परस्पर विरोध भाष्यकारों ने भी मान लिया है और ऐसा भी मानने लगे हैं कि ये सब मार्ग एक ही केन्द्रबिन्दु को प्राप्त होने वाले हैं, फिर भी ये परस्पर भिन्न हैं। यदि ये सब मार्ग भिन्न-भिन्न हैं तो यह निश्चित है कि इनमें से कोई मार्ग 'सम्पूर्ण' नहीं हैं। जो योग 'सम्पूर्ण' होगा, वह किसी से भी भिन्न नहीं हो सकता।

हठयोगी कहते हैं कि हम आसन, प्राणायामादि के अभ्यास के द्वारा प्राण स्थिर करते हैं और चित्त की एकाग्रता साधते हैं। ज्ञानयोगी कहते हैं कि हम विशेष मननादि साधन से स्थिरता का साधन करते हैं। कर्मयोगी कहते हैं कि हम कर्म करने में ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं। भक्त कहते हैं कि हम नाम-स्मरण आदि करते हैं। इस तरह प्रत्येक साधक अपने मार्ग को दूसरों से पृथक् समझता है। इसका फल यह होता है कि हठयोगी आसनों के द्वारा शरीर पर और प्राणायाम के द्वारा प्राणों पर विजय प्राप्त करने का यत्न करता है। ज्ञानयोगी मनन द्वारा मन पर अच्छे संस्कार जमाता है। कर्मयोगी कर्मेन्द्रियों से प्रयत्न करता है और भक्तिमार्गी नाम-स्मरण आदि में ही लगा रहता है। इनमें से एक तो शरीर का आश्रय लेता है, दूसरा प्राण पर निर्भर करता है, तीसरा मन का उपयोग करता है, चौथा कर्मेन्द्रियों का उपयोग करता है और पांचवां स्मरण-शक्ति का आश्रय लेता है। इस तरह इनमें से एक भी सम्पूर्ण मानव-शक्तियों का उपयोग नहीं करता है और इसीलिए अपने आपको दूसरों से

पृथक् अनुभव करता है, तथा इस पृथक्त्व में उसे अपूर्णता का भी अनुभव होता है।

मनुष्य के पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पञ्च-भूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होने पर ही 'सम्पूर्णयोग' हो सकता है। जो यह कहते हैं कि हम केवल प्राणों का साधन करते हैं, अथवा केवल अपने आत्मा को ही परमात्मा के साथ मिलाते हैं, वे आंशिक योग करते हैं। उनके सम्पूर्ण अंगों के साथ योग नहीं होता। अतः वे अपूर्ण-योग करते हैं और इसीलिए पृथक्त्व का अनुभव करते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो केवल एक ही शक्ति का प्रयोग करना असम्भव है। अर्थात् हठयोगी जो यह कहते हैं कि हम आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा केवल शरीरावयव और प्राण का ही अनुष्ठान करते हैं, वे गलती करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय, पञ्च-भूत आदि सबका उपयोग किये बिना न हठयोग का अनुष्ठान हो सकता है और न अन्य योगों का। थोड़ा सा विचार करने पर यह स्पष्ट तौर पर मालूम हो जायगा कि प्रत्येक योग में सब साधनों का न्यूनाधिक उपयोग होता ही है। परन्तु साधक यह अनुमान नहीं करता कि मेरे अनुष्ठान में 'सम्पूर्ण-योग' का अनुष्ठान हो रहा है, बल्कि भ्रम से यह मानता है कि मेरा साधन का मार्ग दूसरों के साधन-मार्ग से भिन्न है, पृथक् है। जो इस भ्रम में ही मस्त रहते हैं वे 'सम्पूर्ण-योग' के लाभ से वञ्चित रह जाते हैं और अपूर्णता का अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे ही लोग साधन-मार्गों के आपसी झगड़े के हेतु बनते हैं और इस तरह योग का सर्व-व्यापक उन्नति का साधन प्राप्त होने पर भी वे उसके सम्पूर्ण लाभ से वञ्चित रह जाते हैं।

बहुत से साधक यह समझते हैं कि योग की सिद्धि आत्मा का परमात्मा के साथ मिलाप हो जाना है, अर्थात् वे यह समझते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत आदि का परमात्मा के साथ योग नहीं होता है। यही 'अपूर्णयोग' अथवा 'सम्पूर्णयोग' का अपूर्ण ज्ञान है और यही बहुत बड़ा घात

करने वाला है तथा नाश कर रहा है। ऋषि-मुनियों ने तो हमें सम्पूर्णयोग साधन दिया, परन्तु उसे हमने ग्रहण नहीं किया। केवल उसके एक-एक अंश को लेकर ही हम आपस में झगड़ रहे हैं और इसीलिए योगसाधन के सम्पूर्ण लाभ से वञ्चित हो रहे हैं।

साधकों को यह समझ लेना चाहिए कि जब तक वे इस अपूर्ण साधन में विचरते रहेंगे तब तक उनको पूर्णत्व का अनुभव नहीं होगा।

अब प्रश्न होता है कि 'सम्पूर्णयोग' का लक्षण क्या है और उसका साधन कैसे करना चाहिए ?

जिस योग में एक ही साथ सम्पूर्ण मानवीय शक्तियों का योग परमात्मा की सम्पूर्ण शक्तियों के साथ होता है वह 'सम्पूर्ण-योग' है और वह स्वरूप-ज्ञान होने के बाद ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पाठक कर सकते हैं कि परमात्मा की और जीवात्मा की शक्तियाँ कौन सी हैं ? गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
> अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
> जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।
>
> (गीता ७. ४; ५)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकार की **'अपरा'** प्रकृति है और नवीं जीवरूपी **'परा'** प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकार की प्रकृति जीव के पास नहीं है ? क्या पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीवनकला मनुष्य के पास नहीं है ? है, अवश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो नौ शक्तियाँ परमेश्वर के पास हैं वे ही मनुष्य के पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्ति का योग क्यों करता

है ? परमात्मा की सम्पूर्ण शक्तियों का योग क्यों नहीं करता ? विचार करने पर मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। क्योंकि ऋग्वेद (१, १६४, २०) में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में **"सयुजा सखाया"** पद आया हुआ है[1]। तथा इस तरह का 'सम्पूर्ण-योग' कैसे किया जाय, इसी का अब विचार करें।

साधक को पहले यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर की प्रकृति इस समूचे विश्व में पूर्णतया व्याप्त है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। इसी कारण ईश्वर को 'सर्वविश्व' कहते हैं। **विश्वं विष्णुः। पुरुष एवेदं सर्वम्**[2]। जब परमेश्वर सर्व है तब यह सब रूप उसी का रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी हैं। इसी तरह साधक को अपने आपको महासागर के अन्दर एक जल-बिन्दु के समान समझना चाहिए। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागर में हैं वही साधक की प्रकृति में भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश-प्रकृति में हैं, वही साधक की प्रकृति में भी हैं। और ईश्वर की महती प्रकृति में साधक की अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसी का बिन्दु रूप है। इस भावना में साधक को स्थिर होना चाहिए और यह विचार करके देखना चाहिए कि अपने पृथ्वी-तत्त्व के साथ ईश्वर की प्रकृति का पृथ्वी-तत्त्व मिला है या नहीं। गन्ध से पृथिवी-तत्त्व का ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ गन्ध न हो ? अपने शरीर में 'गन्धवती पृथिवी' है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व में भी है। क्या अपने शरीर की गन्धवती पृथिवी, विश्वरूप ब्रह्माण्ड की इस प्रकृति से पृथक् है ? पृथक् कहाँ से हो सकती है ? गन्ध में गन्ध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीर के जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वों के साथ विश्व-

---

१. जीवात्मा में परमात्मा के व्यापक होने से दोनों सदा संयुक्त (सयुजा) रहते हैं तथा दोनों का स्वभाव चेतन, नित्य-शुद्ध, नित्य-बुद्ध और नित्य-मुक्त होने से दोनों की समानता को देखकर इन्हें सखा (सखाया) कहा गया है। —सम्पादक

२. यजुर्वेद ३१, २ ।

प्रकृति के ये तत्त्व कैसे मिले हुए हैं, इसका अनुभव करना चाहिए कि ईश के विश्व-व्यापक शरीर से मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कपड़े में सूत्र-भाग है वैसे ही उस प्रभु में मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जब तक मन में ऐसा निश्चय न हो जाय तब तक बार-बार विचार करके ऐसा अनुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए और यह बात जाननी चाहिए कि किस तरह अपनी यह अनुभूति होगी। तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृति का सम्पूर्ण-योग परमात्म-प्रकृति के साथ सदा-सर्वदा है ही। सम्पूर्ण-योग के अभ्यास का यह **'प्रथम-पाठ'** है।

इस योग में यह भावना कि 'मैं प्रभु के साथ सर्वदा संयुक्त हूँ' सदा जाग्रत् रहनी चाहिए। 'मैं अलग हूँ और वह अलग है'— यह भाव यहाँ है ही नहीं। अपनी सब शक्तियाँ उसके साथ नित्य-सम्बद्ध हैं। यही अनुभव करना यहाँ का अनुष्ठान और ब्रह्म-ज्ञान की रीति है, सम्बन्ध है। यही अनुभव करना यहाँ का अनुष्ठान और ब्रह्म-ज्ञान का फल है। यथा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोपनिषद् ६; ७)

अर्थात् जो मनुष्य चराचर जगत् को परमेश्वर में ही देखता है और सम्पूर्ण चराचर जगत् में ही परमात्मा को देखता है वह इस दर्शन से निन्दित आचरण नहीं करता। अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानता है वह उसके भय से कभी भी निन्दित आचरण नहीं करता॥ विशेषज्ञान-सम्पन्न योगी की दृष्टि में जब सम्पूर्ण चराचर जगत् परमात्मा ही हो जाता है उस अवस्था में परमात्मा के एकत्व को देखने वाले उस योगी के लिए मोह और शोक कहाँ? अर्थात् मोह और शोक के स्थान तो भौतिक पदार्थ हैं, जब उनसे सम्बन्ध त्याग कर मुमुक्षु

केवल एक ब्रह्म को ही सर्वत्र देखता है तब उसे मोह, शोक आदि नहीं सताते ।।

जिस ब्रह्म के ज्ञान से शोक, मोह आदि की निवृत्ति हो जाती है तभी उस परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का सच्चे योगी को निम्न प्रकार बोध हो जाता है—

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। (ईशोपनिषद् ८)

अर्थात् वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, वह 'शुक्र' अर्थात् शक्तिमान् और सकल जगत् का उत्पादक है, वह 'अकाय' अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित, अतएव 'अव्रण' अर्थात् शारीरिक विकार से रहित तथा 'अस्नाविर' अर्थात् नाड़ी और नस के बन्धन से रहित है। 'शुद्ध' अर्थात् पवित्र और पापों से रहित, कवि=सूक्ष्मदर्शी, सर्वद्रष्टा और उपदेष्टा तथा 'मनीषी' अर्थात् सब जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता, परिभूः=सर्वोपरि वर्तमान, स्वयंभूः अर्थात् अजन्मा है, वही जीवों के लिए यथावत् उपदेश करता है ।।

इसके आगे का पाठ यह है कि क्या ये पञ्च महाभूत पृथक् सत्ताधारी हैं अथवा एक ही सञ्चालक के ये पाँच गुण हमारी पाँचों इन्द्रियों के पाँच अनुभवों को पैदा कर रहे हैं। जैसे—

पाँच अन्धे हाथी को देखने गये। एक ने जाकर पाँव का स्पर्श किया तो उसको हाथी स्तम्भ (खम्भा) जैसा प्रतीत हुआ, दूसरे को कान स्पर्श करने पर सूप के समान मालूम हुआ। इसी तरह पाँचों अन्धों ने हाथी का वर्णन पाँच प्रकार से किया। उनका अनुभव ऐसा ही था। अवश्य ही अनुभव अपूर्ण था। यही दशा हमारी इन्द्रियों की है। एक सत्-तत्व के साथ जब आँख काम करती है तब उसे उसका रूप दीखता है और जब कान काम करता है तो उसे शब्द सुनाई देता है। यह पृथक् अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा की निजी

आन्तरिक घटना के कारण होता है। वस्तुत: जिसके ये गुण अनुभव में आते हैं वह तत्त्व हाथी की तरह एक ही है। उस तत्त्व में पृथक्-पृथक् भाव नहीं है। जैसे— आम का पीला रंग आँख देखती है, उसका स्वाद जिह्वा लेती है, उसका शब्द कान सुनता है और उसकी गन्ध नाक लेती है। पर आम तो एक ही है। वैसे ही मूल सत्-तत्त्व एक ही है किन्तु उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से होने पर पृथक् गुण अनुभूत होते हैं। एक ही सत्-तत्त्व के अनेक गुण प्रतीत होते हैं।

इस तरह विचार द्वारा एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। पहिले अभ्यास से यह ज्ञान हुआ कि हमारी अपनी प्रकृति के पञ्च-तत्त्वों के साथ ईश की प्रकृति के पञ्चतत्त्व मिले हुए हैं। इस अभ्यास से यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिव (परमात्मा) में एक ही तत्त्व है और वह परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य बिल्कुल नहीं है। यह 'सम्पूर्ण-योग' का **'दूसरा पाठ'** है।

पञ्च-तत्त्वों का एकीकरण इस तरह प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकता है। यह केवल कल्पना की बात नहीं है। पाठक विचार करें और अपने शरीर के पञ्च-तत्त्व विश्व-व्यापी पञ्च-तत्त्वों के साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करें। अथवा जिस एक तत्त्व के पाँच गुण पाँच इन्द्रियों द्वारा प्रतीत होते हैं; वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीर में है वैसा ही सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है इस बात का विचार जान लें। यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का सम्पूर्ण-योग विश्व-व्यापक शक्तियों के साथ हो जाता है। और **नेह नानास्ति किञ्चन'** का अनुभव होता है। यही अखण्ड एकता का अनुभव है।

पाठक कहेंगे कि यह तो प्राकृतिक तत्त्वों की एकता है। सच है। पर पहले यही एकता मन में स्थिर होनी चाहिये। क्योंकि प्रकृति में बड़ी विभिन्नता है। यदि यह प्राकृतिक विभिन्नता हट जाय तो मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक एकता को समझने में कठिनाई न होगी।

---

१. कठोपनिषद् २, १, ११।

(३) जब पञ्च महाभूतों का योग हो गया तब उसके बाद मन का विचार करना चाहिए। मन क्या करता है? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है। साधक यदि विचार करके देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि मन द्वारा तीन प्रकार के अनुभव होते हैं— (i) 'यह सब है'; (ii) 'यह मुझे प्रतीत होता है'; और (iii) 'यह मुझे प्रिय है'। इन्हीं अनुभवों का संक्षिप्त नाम है— 'सत्—चित्—आनन्द'। अस्ति—भाति—प्रियत्व भी इनको कहते हैं। देखने वाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् में ये तीन अनुभव करता है। यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्व में ये तीन अनुभव लेने का यत्न करेगा तो इस तरह भी उसका 'सम्पूर्ण-योग' सिद्ध होगा।

इस सम्पूर्ण विश्व का मैं एक अंश हूँ और मेरे साथ जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह 'है', वह 'प्रतीत होता है' और वह 'प्रिय है'। ऐसा अनुभव होने पर मन का विश्व-व्यापक मन के साथ सम्पूर्ण-योग हो जायगा। पार्थक्य का ज्ञान कराने वाला मन भी इस तरह विश्वरूप के साथ एक हो जायगा।

प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पञ्चभूतों का ज्ञान हुआ, वह अब जाता रहा और एक ही वस्तु के तीन पहलुओं का ज्ञान हुआ। जो वस्तु (अस्ति) है, वही (भाति) प्रतीत होती है और वही (प्रिय) प्रेम-स्वरूप है। अणु-रेणु को इन तीन भावों से देखिये। उसमें अपने आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटाने का प्रयत्न कीजिये। इस तरह के अभ्यास से यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब-वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण-योग का **'तीसरा पाठ'** है। इसमें पञ्च-तत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन भाव ही रह जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भी अनुभव होने लगता है कि ये एक ही वस्तु के तीन भाव हैं।

(४) इसके बाद 'बुद्धि' आती है। वह कहती है कि यहाँ न तो पञ्च-तत्त्व हैं, न तीन भाव ही हैं, केवल जड़ और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्व में कुछ जड़ और कुछ चेतन दिखाई पड़ता है। ऐसा दीखता भी है और अनुभव में भी आता है। जो जड़ है वह चेतन नहीं है और जो चेतन है वह जड़ नहीं है। अतएव बुद्धि

द्वारा केवल ये दो पदार्थ निश्चित होते हैं। इन्द्रियों के सम्बन्ध से हमने पाँच पदार्थ निश्चित किये थे, मन के द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धि के द्वारा केवल दो ही निश्चित होते हैं— जड़ और चेतन। विश्व में जड़ भी है और चेतन भी। साधक में शरीर जड़ है और जीव चेतन। अतएव जो जड़ और चेतन विश्वभर में है वे ही साधक में भी हैं। ऐसा विचार कर साधक को अपना जड़ भाग विश्व के जड़ के साथ और अपना चेतन विश्व-व्यापक चेतन के साथ मिला देना चाहिये। अब हम किस रूप में अलग रहें? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गये हैं— एक जड़ और दूसरा चेतन। शेष पञ्च महाभूत, अस्ति-भाति-प्रियत्व अथवा सत्व, रज, तम सब उसी जड़-चेतन के अन्तर्गत आ गये।

अब साधक अलग कहाँ रहा? वह तो विश्व-व्यापी जड़-चेतन में ही मिल चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् हैं? यहाँ आत्मा को 'साक्षी' रूप में देखना चाहिये। जाग्रत् में जब यह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड़ है या चेतन। और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह द्रष्टा सो जाय और जागे ही नहीं तो कौन किसको जड़ कहेगा और कौन किसको चेतन? अतः इस द्रष्टा का ज्ञान ही यह सब होता है; द्रष्टा का स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्व में परिणत होता है। फिर द्रष्टा से भिन्न कौन-सा पदार्थ कहाँ रहा? जड़ और चेतन रूप जो यह भेद है वह इसी के निज रूप का भेद है।

अब साधक इस **'चतुर्थ पाठ'** के समय स्वयं ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि जब से मैं देखता हूँ तब से यह सब है, नहीं तो नहीं है अर्थात् मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ। मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह सम्पूर्ण-योग का अन्तिम पाठ है। इस समय निम्नलिखित श्रुति-वाक्य ठीक समझ में आ सकता है—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ॐ सर्वम् ॥ —छान्दोग्योपनिषद् (७, २५, १)

अर्थ— "मैं ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दायीं और बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।" यह सम्पूर्ण-योग की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों में यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योग के अङ्ग-प्रत्यङ्ग मात्र हैं और वे सब अपूर्ण-योग हैं। सर्वाङ्ग सम्पूर्ण-योग यही है। आप इसका मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णता में दुःख और पूर्णता में सुख है[1]। आप इस प्रकार सुख को प्राप्त कर सकते हैं।

---

१. यो वै भूमा तत् सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।
(छान्दोग्योपनिषद् ७, २३, १)

द्वितीय विवेक

सम्पूर्ण-योग का रहस्य

योग का अर्थ संयोग, मिलन या मेल है। दो का अथवा बहुतों का एक में मिल जाना योग है। यह योग-सिद्धि वियोग में होती है। ऐसा वियोग से योग में आना तो फिर वियोग में जाने के लिए ही है। ऐसा वियोग और योग अर्थात् योग-वियोग ही संसारी जीवन है, जिसमें देश-काल का अधिकार बना रहता है। ईश्वरीय-जीवन में पूर्ण-योग भी है और पूर्ण-वियोग भी।

इस जीवन में आना-जाना अथवा कोई परिवर्तन परान्त-काल तक नहीं है, सभी रूपों और सभी अवस्थाओं में यह योग है। यह निश्चित ही है कि ईश्वरीय सत्ता से रहित कोई भी सत्ता नहीं है। परन्तु जिसमें यह धारणा और ज्ञान है कि सब विस्तार एक ईश्वर में ही योग को पा रहा है, वह तो अपने जीवन के समस्त विस्तार से अपने प्रभु में समाया ही है। उसका संसारी जीवन भी ईश्वरीय-जीवन ही है। इस अवस्था को प्रकट करने के लिए नदी-सागर का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

—मुण्ड० उ० ३, खं० १, मं० ८

जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में पहुँच कर और अपने नाम-रूप को त्याग कर उसी में अस्त हो जाती हैं, इसी प्रकार मुक्त होने वाला मनुष्य देवदत्तादि नाम और सफेद, काला आदि रूप को त्याग कर उस दिव्य परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है। यथा—

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वं एकीभवन्ति॥

—मुण्ड० उ० ३, १, ७

कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब उस अविनाशी परमेश्वर में जाकर एक हो जाते हैं।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
—मुण्ड० उ० ३, १, ६

बस, वह जो उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म में रहने से ब्रह्म के सादृश्य को प्राप्त कर लेता है।

तं यथा यथोपास्ते तदेव भवति।

उक्त कथन का सार यह है कि नदी अपने समुद्र में पूर्ण योग को प्राप्त कर अपने रूप और नाम को समुद्र में मिला रही है। समुद्र में योग पाकर उसका रूप और नाम (जो शरीर के हैं न कि जीव के) समुद्री सत्ता में समा जाता है। और जो नदी अपने समुद्र में योग नहीं पाती, वह अपने रूप और नाम से अभाव में आ जाती है। मानो अणु का अपने विभु में योग पा लेना ही उसकी सत्ता का सत्य-स्वरूप में बना रहना है।

अब नदी के इस पूर्ण-योग पर विचार कीजिये। वह जिस पर्वत से निकली है जो उसका जन्म-स्थान है, वहीं से वह अपने समद्र में जा रही है। यह स्थिति मध्य की है— उसकी अविच्छिन्न धारा उद्गम (उत्पत्ति) स्थान से लेकर समुद्र-पर्यन्त समुद्र से सदा युक्त ही है। आदि, मध्य, अन्त किसी भी अवस्था में वह समुद्र-योग से शून्य नहीं है। यही उसका पूर्ण-योग है।

इसी प्रकार साधक भी अपने पूर्ण रूप में और सभी अवस्थाओं में अपने प्रभु में पूर्ण-योग पा रहा है। इसमें स्थूल या सूक्ष्म का भेद ही क्या है ? जैसे संसारी दृष्टि अपने सम्मुख जो कुछ है— सब देख रही है, वैसे ही इसमें ईश्वरीय सत्ता का देखना है। इसमें अपना देखना सबमें समाया ही है। और ऐसी दृष्टि द्वारा देखना ही पूर्ण-योग है। ऐसी स्थूल दृष्टि में सूक्ष्म दृष्टि समायी ही है। पूर्ण-आनन्द, पूर्ण-उल्लास, पूर्ण-उमङ्ग सब पूर्ण ही पूर्ण हैं।

प्रश्न— कौन किसमें लय होता है ?

उत्तर— पृथिवी जल में लय को प्राप्त होती है, अग्नि में जल लय हो जाता है, अग्नि वायु में लय होती है, वायु आकाश में लय प्राप्त होता है। इस प्रकार से विलोम क्रम के अनुसार स्थूल भूतों के लय के अनन्तर बुद्धि में मन, अहंकार में बुद्धि, चित्त में अहंकार, क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में चित्त और परमात्मा में क्षेत्रज्ञ लय को प्राप्त हुआ करते हैं।

मनुष्य साधारण प्राणी नहीं हैं। वे अमृत की सन्तान हैं। एक बून्द के अन्दर समुद्र निहित है। आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान उसे परमात्म-प्राप्ति के पथ में ले जा सकते हैं और योग ही सर्वोत्कृष्ट रास्ता है। अतः संसारी विषयों से मन को बिल्कुल निकाल बाहर करके पूर्ण परमात्मा में पूर्ण रीति से लवण-जल की तरह अपने आत्मा को लय कर देना ही **'सम्पूर्ण-योग'** का रहस्य है।

तृतीय विवेक

सम्पूर्ण-योग की तैयारी

भादों मास की रात्रि है। आकाश बादलों से घिरा है। अन्धकार घटाटोप छाया हुआ है। सांसारिक जन अपने-अपने काम-धन्धों से छुट्टी पाकर शयन और विश्राम की तैयारियाँ कर रहे हैं। ऐसे समय में एक छोटे से साफ़ और स्वच्छ झोंपड़े में तीन मनुष्य चुपचाप चिन्ता-सागर में डूबे हुए बैठे हैं। एक उनमें पुरुष है, शेष दोनों स्त्रियाँ हैं। एक टिमटिमाये हुए दीपक ने अपने धुन्धले प्रकाश से अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस झोंपड़ी को प्रकाशमान कर रक्खा है। यह झोंपड़ी बस्ती से किञ्चित् दूर पर स्थित है। दीपक की ज्योति दूर-दूर तक दिखाई देती है, और सुनसान जंगल के भूले-भटके मुसाफ़िरों को अपनी ओर आकर्षित करके उन्हें आश्रय और सहारे का निमन्त्रण देती है। यह उस याज्ञवल्क्य ऋषि की कुटिया थी जिसे संसार के महापुरुषों और महानुभावों में अग्रणी समझा जाता था और जिसकी विद्या, बुद्धि, अनुसन्धान और रचे हुए ग्रन्थों पर आज के दिन भी दुनियाँ की सभ्य जातियों के पुरुष बड़े आदर और सम्मान से विचार कर रहे हैं।

कुटी की अवस्था का हम क्या वर्णन करें। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वह एक निर्धन और सांसारिक धन-पदार्थों से रहित मनुष्य का स्थान था। किन्तु सजावट और सादगी से ज्ञात होता था कि उस कुटी में वास करने वाले अवश्य ही बड़े धार्मिक और स्वच्छता-प्रिय हैं। घर की वस्तुएँ भी अत्यन्त चमक-दमक से खाली थीं। एक छोटी सी कोठरी में पढ़ने-लिखने की पुस्तकें धरी थीं, जो हाथ से ताड़ के पत्रों पर लेखनी से लिखी गई थीं, और अत्यन्त यत्न के साथ कपड़ों की तह में लपेट कर सुन्दरता

से एक आलय (ताक़) में रक्खी हुई थीं। कोठरी के मध्य में कुशा के आसन बिछे हुए थे। उनके सम्मुख एक हवन-कुण्ड बना हुआ था। यह ऋषि की पूजा का स्थान था।

वह तीनों जन मौन साधे एकाग्रचित्त वहाँ बैठे थे।

पुरुष के चेहरे से प्रगट होता था कि वह ऋषि मानों धर्म्म के किसी गूढ़तत्त्व पर विचार कर रहा है, या उसके मन में कोई ऐसी बात उत्पन्न हुई है जिसको प्रगट करते हुए वह सोच-संकोच कर रहा है। यह दशा बहुत देर तक रही। निदान, ऋषि ने अपने चित्त की वृत्ति को दृढ और स्थिर पाकर अपने समीप बैठी हुई स्त्रियों को सम्बोधन किया—

प्यारी धर्मपत्नियो! यह संसार असार है। यहाँ की किसी वस्तु का ठिकाना नहीं। प्रत्येक वस्तु के क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन होने में कोई सन्देह नहीं है। कर्म का नियम (क़ानून), काल-चक्र, संसार का परिवर्तन— ये कभी स्थिर नहीं रहते। परमाणु-परमाणु में परिवर्तन का कार्य हो रहा है। प्रकृति के चक्र (पहिए) इस ज़ोर के साथ घूम रहे हैं, कि मनुष्य की अल्प बुद्धि उनके भ्रमण का अनुमान नहीं कर सकती। कल क्या था, आज क्या है? गत वर्ष की अवस्था का इस वर्ष की दशा से मुकाबला करो तो, आकाश-पाताल का अन्तर पाओगे। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। आज प्रातःकाल जिस समय सूर्य भगवान् की रश्मियों (किरणों) से खेतों के तख़ते ज्योतिर्मान् बन गए थे। समस्त मनुष्य, पशु, पक्षी अपने-अपने नियत कर्त्तव्यों के पालन करने में प्रवृत्त हुए थे। फूलों की सुगन्धि से सारा जंगल व मैदान गन्धी की दूकान बन गया था। एक महाविचित्र हलचल मच गई थी। यह प्रकृति के प्रारम्भिक जीवन का दृश्य था। दिन प्रकाशित हुआ, सूर्य्य दोपहर के समय केन्द्र-स्थान पर पहुँचा, घाम की कठोरता ने वह उष्णता उत्पन्न की कि त्राहि माम्! वह प्रातःकाल की कोमलता कठोरता में बदल गई। कुछ का कुछ हो गया। सारा नक़शा उलट-पुलट गया। अब इस समय सूर्य अदृश्य है; ज्योति का अभाव है। आकाश बादलों से आच्छादित है। बिजली की कठोर गर्जना महाभयानक दृश्य

उत्पन्न कर रही है। सब लोग काम-धन्धों से फुरसत पाकर अपने घरों में बैठे हैं। अथवा निद्रा देवी की गोद में खर्राटे ले-लेकर सो रहे हैं। यह आज के दिन का सर्वाङ्ग इतिहास है। यदि विचार से देखो, तो जिन-जिन बातों को तुमने आज के दिन देखा है वह प्रकृति के प्रत्येक काल में इसी भाँति से दृष्टिगत होगा। मनुष्य के जीवन की भी यही दशा है। इसी प्रकार हम सब लोग अपने जीवन के सुन्दर व सुहावने प्रभात से प्रारम्भ करते हुए तरुणता के केन्द्र-स्थान पर पहुँचते हैं, और फिर वृद्धावस्था की सन्ध्या में प्रविष्ट होकर अन्त को मृत्यु की गोद में सो जाते हैं। यदि विचारपूर्वक देखो तो एक-एक घास का तिनका इस पाठ को पढ़ाने के लिए शिक्षक का काम दे रहा है........।

ऋषि अभी इस वार्तालाप के सिलसिले को समाप्त नहीं कर पाया था कि छोटी स्त्री, जिसका नाम मैत्रेयी था, बोल उठी—

स्वामी! आपने इस समय अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में संसार के आद्योपान्त की छवि प्रगट की। आपकी वाचन-शक्ति धन्य है। आप पूर्ण विद्वान् और धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले हैं। इसलिए आपका एक-एक शब्द मेरे हृदय में बस गया है। मैंने ज्ञान-लोक और सर्व खण्डों की यात्रा कर ली, ज्ञान के चक्षुओं से बहुत उत्तमता के साथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के चित्र पर दृष्टि डाल ली। यदि जीवन का यही परिणाम है, यदि चमकते हुए दिन की अन्तिम मंजिल शाम है, तो हम धन्य हैं। हमारी सारी चिन्ताएँ और कामनाएँ व्यर्थ हैं। जिस बात को प्रकृति ने स्वयं स्थापित किया, क्या वह बिना परिश्रम किए हुए प्राप्त होगी? सच है, प्रभात दोपहर में, और दोपहर सन्ध्या में परिवर्तित होता है। दिन के परिश्रम का फल रात्रि की निद्रा का सुख है। दुःख के पीछे सुख का नियम सर्व-साधारण का कथन है। यदि यही दशा है तो हमको व्यर्थ चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? मृत्यु हमारे समस्त दुःखों और क्लेशों को हमारे प्राण-अपहरण करने के साथ समाप्त कर देगी। अनुचित कर्म के दण्ड हमें भोगने पड़ेंगे। जिस प्रकार हम प्रिय निशा-देवी की गोद में लेट कर अपने दिन भर के काम-काज के परिश्रम को भूल जाते हैं

उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा भी हमें सुख और आनन्द प्राप्त होगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मृत्यु की घटना का पहले से ही भय वा शोक करना व्यर्थ है...... और इस प्रकार के किसी भय वा चिन्ता के करने की आवश्यकता नहीं है।

ऋषि ने अपनी धर्मपत्नी के वचनों को भली भाँति श्रवण करके वार्तालाप के प्रसङ्ग का फिर आरम्भ किया—

प्रिय मैत्रेयी! प्रथम इसके कि मनुष्य किसी वार्तालाप के विषय को आदि से लेकर अन्त तक सुन न ले, इस शीघ्रता के साथ उसके विषय में अपना मत प्रकाशित करना बहुत अनुचित है। संसार में इस अधीरता के कारण बड़े-बड़े उपद्रव उत्पन्न हुए हैं, लोगों ने बड़ी-बड़ी हानियां उठाई हैं। एक-एक जाति मर-कट कर नष्ट हो गई है। अस्तु, किसी विषय का सिद्धान्त जानने के लिए गम्भीर सोच की आवश्यकता है।

प्यारी सहधर्मिणी! इसमें कोई सन्देह नहीं, कि तू तीव्र-बुद्धि और विद्या-विशारद है। मैं तेरी योग्यता और बुद्धि से भली-भाँति अवगत हूँ, किन्तु इस विषय को जानने के लिए अन्य बातों की भी आवश्यकता है। प्रत्येक बात की तह तक पहुँचने के लिए सबसे आवश्यक बात स्वभाव की शिक्षा है। परन्तु इस समय मैं इस प्रसङ्ग को छेड़ना नहीं चाहता, पहले तुझको शान्त कर लूंगा, फिर अपने असल उद्देश्य को तुझ पर प्रगट करने की चेष्टा करूँगा। यह सत्य है कि प्रभात के पीछे सायंकाल और उत्पत्ति के पीछे मृत्यु की घटना का होना अवश्यम्भावी है। परन्तु यह कभी भूलकर भी ध्यान में न लाना कि अधर्म्मी की मृत्यु-रूपी निद्रा की गोद में वही सुख प्राप्त होगा, जो एक धार्मिक पुरुष को, जिसने धर्म्म-परायण होने का संग्राम किया है और यावज्-जीवन धर्म्म पर आरूढ़ रहा है। उसको निस्सन्देह सुख है। परन्तु शोक! उस मनुष्य के लिए जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में फंसकर धर्म्म-विहीनता में अपना जीवन नष्ट किया है। उसको न दिन को चैन, न रात को। उसके दु:स्वप्न मस्तिष्क (दिमाग) को व्याकुल रखते हैं। वह सोते-सोते चौंक उठता है। उसको दुष्कर्म्मों के दण्ड का ध्यान महाभयानक रूप धरकर

सताता और व्याकुल करता है। वह दाँत पीसता है, रोता है, चिल्लाता है, हाय-हाय करता है, महादुःख उठाता है, अकेले सोते हुए भय प्रतीत करता है, किसी दूसरे का सहारा ढूंढ़ता है। दुःस्वप्न के भय से शयन करने से घबड़ाता है। किन्तु सोना भी आवश्यक है, उससे भी छुटकारा नहीं। लाचार होकर सो रहता है, और प्रभात फिर अपने पुराने अभ्यासों को साथ लिए हुए उठता है।

यदि ईश्वर की दया न हुई और ऐसे पतित जन को कोई महान् शक्तिवाला सहायक प्राप्त न हुआ तो वह दिन-प्रतिदिन और अधिक गिरता और पतित होता जाता है। इस विषय पर फिर वार्तालाप करेंगे। इस समय मनुष्य के जीवन पर ध्यान दो। जिस तरफ मेरी दृष्टि जाती है, समस्त संसार में विचित्र लीला दिखाई देती है। किसी चीज़ की स्थिरता की आशा नहीं, संसार नाशवान् है। और पता नहीं, कब मनुष्य की जीवन-यात्रा पूरी हो जावेगी। पानी के बुद-बुदों का हिसाब लगाया जा सकता है कि इतनी देर में विलुप्त होंगे। नदी की बाढ़ का अनुमान किया जा सकता है, कि इतनी देर में अपनी प्रकृत अवस्था में आ जायगी। परन्तु मनुष्य-जीवन की कोई सीमा नियत करना मूर्खता है। माता की गोद में खेलते हुए तन्दुरुस्त बच्चे जिनके मर जाने की कोई सम्भावना नहीं होती, एक क्षण-मात्र में मर जाते हैं और निर्दय मृत्यु उनके गले को घोंट कर माता-पिता का आनन्द और उनकी भावी आशाओं, कामनाओं को मलियामेट कर देती है। कभी तो ऐसा संयोग होता है कि बात करते-करते दम निकल जाता है। एवं इस प्रकार के क्षण-भंगुर जीवन पर विश्वास कर जो परस्पर वैर-विरोध और मिथ्या भ्रम-जाल में फंसे रहते हैं उन पर धिक्कार है। जब मरना मनुष्य के लिए अवश्यम्भावी है और इस बात का भी कोई पता नहीं, कि किस दिन व किस समय मृत्यु आकर गला घोंट देगी, तो सारी आयु, सारी चेष्टा, सारा परिश्रम इस बात के लिए करना, कि मेरी पाशविक वासनाएँ और उत्तेजनाएँ पूरी हों, इन्द्रिय-जनित सुख व स्वाद प्राप्त हों, मूर्खता नहीं तो और क्या है?

नाशवान् सुखों और भोगों की इच्छा में मूल्यवान् जीवन खपा देना निःसन्देह मूर्खता है।

हे प्रिया ! अब सुखों का हाल सुनो। पूर्ण सुख कभी किसी को मिलने वाला नहीं, क्योंकि इस सृष्टि के भीतर उसकी सम्पूर्ण सामग्री उत्पन्न नहीं की गई। परिश्रम करने पर भी इच्छानुसार सुख प्राप्त भी हो गया तो वह दुःख से रहित नहीं होता। या तो उस सुख के सामानों को और अधिक एकत्र करने की इच्छा होगी, अथवा उससे पृथक् होने का विचार हर समय काँटे की तरह हृदय में खटकता रहेगा। तीसरे, उसकी रक्षा की चिन्ता हर समय व्याकुल रखेगो। चौथे, यदि अपनी उचित सीमा को उल्लंघन कर गया तो उसके कारण से तरह-तरह के दुःख, क्लेश, शारीरिक रोग उत्पन्न होंगे। पाँचवें, दैनिक भोग उसकी प्रियता को सामान्य बना देता है और उसके परिवर्तन की चिन्ता हो जाती है और उसे अधिक सुखदायक बनाने के लिए और दूसरे सामानों को एकत्र करने की इच्छा हो जाती है। सन्तोष-भाव कोसों दूर भागता है। प्रलोभन अपने ऐसे बुरे संस्कार उत्पन्न कर देता है, जो मनुष्य को बात की बात में तुच्छ और नीच बनाकर ही चैन लेता है। यह केवल एक ही नहीं वरञ्च दुनियाँ के सम्पूर्ण पदार्थों का हाल है। ऐसी अवस्था में जिसे कुछ भी सोच, समझ और विद्या-बुद्धि प्राप्त है वह किस प्रकार इन चञ्चल भोगों और पदार्थों के पीछे अपने आपको नष्ट करेगा ? फिर सबसे भयानक फल जो प्रतीत होता है, जो आने वाला है, उस पर सोचने से और भी अधिक भय प्रतीत होता है और रौंगटे खड़े हो जाते हैं। जिस चीज में प्रेम हो, और जिस बात की इच्छा हो, उसी के अनुसार मनुष्य को बारम्बार जन्म-धारण करना पड़ता है।

प्यारी धर्मपत्नियो ! यह तत्त्व ठीक है। संसार में सीखी हुई बातें और किए हुए कर्म्म विशेष-रूप से अभ्यासी बनाते हैं। पुनर्जन्म में उसकी दशा बदल देते हैं और यदि विचारपूर्वक देखो, तो प्रथम इसके कि मनुष्य स्थूल शरीर का परित्याग करें उसमें वैसे ही गुण एवं स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं, जो आगामी

प्राप्त होने वाले अस्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं। जो जन काम-वासना के वशीभूत होते हैं उनके स्वभाव बिगड़ते-बिगड़ते इतने रद्दी हो जाते हैं कि वह इसी जन्म में ही गधों के समान बन जाते हैं। मस्तिष्क के सूक्ष्म पर्दे बिगड़ जाते हैं, हृदयरूपी दर्पण मैला और काला हो जाता है। चित्त की एकाग्रता अथवा धारणा-शक्ति किसी आध्यात्मिक विषय पर सोचने-विचारने और ठहरने के स्थान में लिङ्ग-इन्द्रिय को आश्रय बनाती है। और इस प्रकार वह जीते-जी मानो गधा बन जाता है। जिनका सांसारिक सम्बन्धियों के साथ आवश्यकता से अधिक सम्बन्ध है या माया-मोह का बन्धन है वह आगामी जन्म में कुत्ते का शरीर धारण करते हैं। अन्य जीवों की दशा भी इसी प्रकार समझनी चाहिए।

इन सब बातों को विचार कर अब मेरा चित्त इस असार संसार से उपराम हो गया है और मैंने अपने मन में यह प्रतिज्ञा धारण कर ली है कि कम से कम कुछ दिनों के लिए अपने चित्त की वृत्ति को संसार से हटाकर सच्चे आनन्द व सच्चे सुख की खोज में प्रवृत्त करूँ। नाना प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प के परदे, जो आत्मा पर चढ़ रहे हैं, उनको विदीर्ण करके आत्मा के प्राकृत रूप को देखूँ। सिद्ध महापुरुषों ने इस तत्त्व को सम्पूर्ण विद्याओं और गुणों से भी आवश्यक बताया है। मैंने साधुओं के सत्संग और सत्-शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा इस तत्त्व से अभिज्ञता प्राप्त कर ली है। परन्तु अब उस ज्ञान की परीक्षा और प्रत्यक्ष-ज्ञान बाकी है। उसको सम्पूर्ण-योग की सहायता से प्राप्त करूँगा। इस इरादे से मैं तुमसे कुछ दिनों के लिए पृथक् रहूँगा। और अपनी सांसारिक सम्पत्ति तुम दोनों में बराबर-बराबर विभक्त कर दूँगा। तुम दोनों परस्पर प्रीतिपूर्वक सुख से जीवन व्यतीत करना। अनुचित कलह-क्लेश और ईर्ष्या-द्वेष से पृथक् रहना (बृ०उप० २,४,१)।

मैत्रेयी बोली, महाराज! आपका विचार महाश्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार अपने कर्म्म और धर्म्म का विचार करे, वह धन्य है। धर्म्म ही मनुष्य का सच्चा साथी, आत्मा का आश्रय और मस्तिष्क की ज्योति है। जिस मनुष्य में धर्म्म नहीं होता उसके आचार, व्यवहार, साहस और प्रतिज्ञा में दृढ़ता नहीं होती।

दुर्बलता उसको कभी प्रकृत उद्देश्य तक न पहुँचने देगी। वह सदा हकल-विकल रहेगा। आपने सदा अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन किया और अब मनुष्य-जीवन के सबसे उच्च और श्रेष्ठ उद्देश्य की ओर ध्यान हुआ है, परन्तु हे प्राणनाथ! आपके वचन में दुरभिसन्धि है। मैं प्रार्थना करती हूँ, कि आप मेरी इस शङ्का का निवारण करें।

याज्ञवल्क्य— मैत्रेयी! तू क्या कहती है, मेरे वचन में दुरभिसन्धि है। यह बात असम्भव है। जिस वक्तृता में यह दोष हो ज्ञानी उसको अशुद्ध और बुरा कहते हैं। उसके ज्ञान, बुद्धि और योग्यता पर धब्बा आता है। ज्योति और अन्धकार एक जगह नहीं रह सकते। जल और अग्नि का मिलाप कठिन है। दो में से केवल एक चीज़ एक समय में रह सकती है। दोनों एक साथ कदापि एकत्र नहीं हो सकतीं। तू बता, मेरी वक्तृता में क्या दोष है?

मैत्रेयी— प्राणनाथ! आपकी वक्तृता के ललित होने में किसको सन्देह है? आप सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों के ज्ञाता हैं। मेरा यह कदापि अभिप्राय नहीं कि आपकी वक्तृता दूषित वा अशुद्ध है वा श्रोता की समझ में नहीं आती, अथवा अन्य कोई दोष है। मेरे कथन का तात्पर्य इस अवसर पर इस बात के दिखलाने का था कि आप एक उच्च सभ्यता के नियम को भङ्ग कर रहे हैं। मेरी बहिन कात्यायनी यहाँ बैठी हैं। वह अत्यन्त सरल-स्वभाव वाली और धर्म्म-परायण है। उसकी प्रकृति यह है कि, आपकी प्रत्येक आज्ञा को विना किसी सोच-विचार के पालन करती है। परन्तु मेरा स्वभाव और तरह का है। स्त्रियों की प्रकृति स्वभावतः ही चञ्चल होती है, यदि मैं किसी बात के समझने के निमित्त आप से कुछ प्रश्न करूँ तो आप दोनों क्षमा कर दीजिएगा, और मूर्ख व अज्ञान समझकर भलीभाँति समझा दीजिएगा, ताकि मेरे मन में यह बात न रहे, कि मुझ से सम्मति तो ली गई, परन्तु उसका विषय अच्छी तरह से समझाया न गया।

याज्ञवल्क्य—नहीं, नहीं, मैत्रेयी! ऐसा मत समझना। कात्यायनी इस बात की साक्षी है। मैं सब प्रकार से तेरी प्रसन्नता चाहता

हूँ। तू खुशी से प्रगट कर। वह कौन सा नैतिक नियम है, जिसको मैंने भङ्ग किया है।

मैत्रेयी— स्वामिन्! मैंने कहा था कि आपके कथन में परस्पर-विरोध है और आपने एक नैतिक नियम का ध्यान नहीं रक्खा। मेरा तात्पर्य यह था, कि जिस धन, माल, पदार्थ को आप दुःख का कारण और असार व नाशवान् समझ रहे हैं, उसी को हमारे लिए सुखदायी और आनन्दकारी बताकर यह उपदेश दे रहे हैं, कि हम लोग धन-सम्पत्ति को लेकर सुख और आनन्द से जीवन व्यतीत करें। नैतिक नियम यह है—

"अपने लिए बुरा जो मानो, दूजो को वह कभी न आनो।"

जिस बात को आप अपने लिए उचित नहीं समझते, दूसरों के वास्ते उसे क्यों उचित समझते हैं? यदि हमारी संगत में व सांसारिक सम्बन्धों में सच्ची खुशी व सच्चा आनन्द होता, तो आप इन्हें क्यों त्यागते? परन्तु यह अचम्भे का विषय है, कि जिन सांसारिक भोगों और पदार्थों में आप हमारे सुख और शान्ति का हेतु वताते हैं, आप स्वयं उनसे विरक्त होते हैं और उन्हें परित्याग कर रहे हैं।

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी! बस, यही सन्देह था?

मैत्रेयी— महाराज! नहीं। जिस समय आप इस शङ्का को निवारण कर देंगे उस समय मैं कुछ और आवश्यक प्रश्न करूँगी और उनके उत्तर की आकाङ्क्षा करूँगी।

याज्ञवल्क्य— बहुत अच्छा। अब मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करता हूँ। पहले तो तुम समझ लो कि मेरे कथन में कहीं दुरभिसन्धि नहीं है। दूसरे, मैंने किसी नैतिक नियम को भङ्ग नहीं किया। मैंने कभी यह नहीं कहा, कि मेरे लिए दूसरी वस्तुओं में आनन्द है और तुम्हारे वास्ते अन्य वस्तुओं में। न मैंने कभी अपनी यह इच्छा प्रगट की कि जिसको मैं अप्रिय समझता हूँ उसको अवश्यमेव तुम्हारे गले मढूंगा। इस बात के आशय को समझने

में तुमने धोखा खाया है, और प्रायः मनुष्य से ऐसा हो जाता है। मैं इसको बुरा नहीं समझता। अब देखो, ज्ञानी जो करते हैं यह विचार-रहित नहीं होता। कोई तत्त्व उसमें अवश्य होता है। तीव्र बुद्धि उसकी तह को पहुँच जाती है। परन्तु तुच्छ बुद्धि जो केवल स्थूल पदार्थों में आबद्ध रहती है और अधिक गहराई में नहीं जा सकती उसे कुछ का कुछ समझती है और अपने विचार के अनुसार उसकी व्याख्या करती है।

ओ३म् नाम यक वृक्ष है, शाखा अगम अपार।
जाकी जैसी पहुँच है, सो तस पकड़त डार॥

यही कारण है कि प्रत्येक बात के दर्जे नियत किए गए हैं और प्रत्येक भाँति का सोच-विचार रखने वाले मनुष्यों की योग्यता के अनुसार उनकी शिक्षा-विधि नियत की गई हैं। एक छोटा सा अल्पायु बालक सुन्दर-सुन्दर खिलौनों से प्रसन्न रहता है। कल्पित कथा-कहानियाँ उसके मन को आनन्द देती हैं। परन्तु क्या तुम समझ सकती हो, कि एक चतुर बुद्धिमान् तरुण पुरुष केवल इन्हीं बातों से प्रसन्न हो सकेगा? कदापि नहीं। वह इस अवस्था से निकल कर ऊपर जा चुका है। उसकी बुद्धि-शक्ति क्रमागत विकास पाकर उन्नत दशा में पहुँच चुकी है। वह विविध प्रकार के पदार्थों में अपना मनोरञ्जन ढूंढता है; बालकों के रुचिकर पदार्थों की महिमा उसकी दृष्टि में जाती रही है। अब वह अधिक सोच-विचार से काम लेता है। इसी प्रकार जिसकी आयु अधिक हो गई है और जिसने चारों आश्रमों के नियत कर्त्तव्यों को वेद और शास्त्रों के आदेशों के अनुसार पालन किया है वह अधिक से अधिक ज्ञानी, दूरदर्शी, उन्नत-चेता और इन्द्रियों को वश में रखने वाला होता है। तथापि उसकी दृष्टि यथार्थता की ओर रहती है। परन्तु यह अटल नियम नहीं है। प्रत्येक नियम में कुछ विलक्षणता होती है। कभी-कभी पूर्व जन्म के संस्कार बाल्यकाल में ही मनुष्य को बुद्धिमान्, दूरदर्शी और अग्रसोची बना देते हैं और बड़ों-बड़ों के मान-भङ्ग करने लगता है। किन्तु ऐसों का यहाँ पर वर्णन नहीं। अब देखो, प्रारम्भ में नन्हें बालक को अक्षर-अभ्यास की शिक्षा होती है, फिर क्रमानुगत व्याकरण,

काव्य, शास्त्र, विज्ञान, उपनिषद् और वेदों की शिक्षा दी जाती है। यह यक-बारगी नहीं होता किन्तु जैसे-जैसे शिक्षार्थी की बुद्धि बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसके विचार करने के लिए सामान एकत्र किए जाते हैं और किसी काल में वही बालक जो माता की गोद में तुतलाता हुआ एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता था, महा-विद्वान् और धुरन्धर पण्डित बन जाता है। यही दशा आध्यात्मिक शिक्षा की है। उसमें भी इसी प्रकार क्रमागत उन्नति की जाती है और उसको धीरे-धीरे इस योग्य बनाया जाता है कि अपने आप प्रकृति के कुछ तत्त्वों को समझकर उनको निश्चय कर सके।

हे मैत्रेयी! अब मैं तुझ से पूछता हूँ, यदि कोई श्रेष्ठ पुरुष किसी बालक को कोई सुन्दर खिलौना देकर यह कहे, कि तू इसके साथ खेल और प्रसन्न हो तो क्या तू यह कहेगी कि चतुर पुरुष के वचन में सन्दिग्ध-दोष है? अथवा यह कि वह नैतिक नियम के विरुद्ध जा रहा है? मैं कहूँगा कि कदापि नहीं। और कदाचित् तू अब भी अपनी शङ्का उचित न समझेगी। सुन, मैं तुझको आध्यात्मिक जगत् में अल्पायु और बालिका समझता हूँ। यद्यपि यह सत्य है, कि तेरे विचार उच्च हैं, परन्तु अभी तक तू उन बातों को नहीं समझ सकती जो आत्मज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। जब तक मनुष्य पूरी योग्यता प्राप्त न कर ले तब तक उसे धैर्य्य और सन्तोष रखना चाहिए। समय उसको आप अधिकारी बना देगा, उसके संस्कार दृढ़ होते जायेंगे। आगामी किसी काल में वह उच्च स्थान पर दिखाई देगा। मैं समझता हूँ तूने मेरे उपदेश को अच्छी तरह से अपने मन में धारण कर लिया होगा।

मैत्रेयी—हाँ स्वामिन्! मैंने भली भाँति समझ लिया। सचमुच मैं आध्यात्मिक जगत् में एक अज्ञान बच्चे के समान हूँ।

याज्ञवल्क्य— अच्छा, अब तू अपनी शङ्काओं को प्रकट कर, जो तेरे हृदय को व्याकुल कर रही हैं। मैं उनका उत्तर दूंगा।

मैत्रेयी— हे सम्मान के योग्य श्रद्धास्पद ऋषि जी! क्या यह सम्पदा जो आप मुझको दे रहे हो, सच्चे आनन्द व अनन्त सुख

की प्राप्ति में सहायकारिणी प्रमाणित होगी ? क्या संसार का सम्पूर्ण धन (यदि वह मेरे अधिकार में आ जावे) मुझे मुक्ति दिलावेगा ?
(बृ० उप० २,४,२)

याज्ञवल्क्य को यह आशा नहीं थी, कि उसकी पत्नी इस सरलता से ऐसा प्रश्न करेगी। वह जानता था कि स्त्रियां अपने सम्बन्धियों से जुदा होते समय दुःखी होती हैं, परन्तु इस प्रश्न को सुनकर उसकी आँखें खुल गईं और उसने अत्यन्त धीरता और गम्भीरता से उत्तर दिया—

याज्ञवल्क्य— नहीं, यह सम्भव नहीं है। अलबत्ता यह हो सकता है कि तू धनवानों का सा जीवन व्यतीत करेगी। धन की सहायता से मोक्ष की आशा रखना व्यर्थ है; यह अज्ञानता है, न कभी ऐसा हुआ है और न होगा। (बृ० उप० २,४,२)।

मैत्रेयी— फिर यह धन जो आप मुझको दे रहे हो मेरे किस काम का है ? मुझको इससे क्या लाभ होगा क्योंकि हे त्रिकाल-दर्शी ऋषि! यद्यपि मैं आध्यात्मिक जगत् में बच्चों के समान हूँ तथापि आपकी पवित्र सङ्गत में रहने के कारण मैं इतना समझ सकती हूँ कि इससे मुझको कुछ लाभ नहीं हो सकता। मेरे नज़दीक इसकी कोई महिमा नहीं है और नाहीं मैं उसको बहुत प्रिय समझती हूँ। अब आप कृपा करके उन उपायों का वर्णन कीजिए जो मोक्ष प्राप्त करने में सहायक होते हैं। यद्यपि मुझे उनके सुनने का अधिकार नहीं है तथापि जितना आप आवश्यक और उचित समझें और जितना मुझे जानने के योग्य समझें उतना ही उपदेश करें।
(बृ०उप० २,४,३)

याज्ञवल्क्य— मैत्रेयी ! देख, तू हमको पहले से प्रिय है। प्रथम इसके कि तुझको हमारे प्रेम का ज्ञान हो या स्वयं उसका प्रकाश करें, तू हमारी दृष्टि में प्यारी है। मैं तुझ पर उन उपायों को प्रकट करूँगा जो मोक्ष प्राप्त करने में सहायकारी प्रमाणित होते हैं। तू आकर मेरे समीप बैठ जा और मेरे उपदेश को ध्यान के साथ सुन और उसको अपने हृदय में धारण कर।

मैत्रेयी याज्ञवल्क्य को प्रणाम करके उनके समीप बैठ गई।
(बृ० उप० २,४,४)

याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी को आत्मज्ञान की अधिकारिणी देखकर खुशी से इस प्रकार उपदेश देना आरम्भ किया—

देख ! स्त्री की दृष्टि में उसका पति केवल पति होने के कारण प्रिय नहीं है किन्तु आत्मा के कारण पति प्यारा है। देख ! पति की दृष्टि में उसकी पत्नी केवल पत्नी होने के कारण प्यारी नहीं है किन्तु आत्मा होने के कारण स्त्री प्यारी है। देख ! माता-पिता की दृष्टि में उनकी सन्तान केवल सन्तान होने के कारण प्यारी नहीं है किन्तु आत्मा के कारण से सन्तान प्यारी है। देख ! सम्पत्ति सम्पत्ति होने के कारण प्यारी नहीं है किन्तु सम्पत्ति आत्मा के कारण प्यारी है। देख ! ब्राह्मण केवल ब्राह्मण होने के कारण प्यारा नहीं किन्तु आत्मा के कारण ब्राह्मण प्यारा है। देख, क्षत्रिय केवल क्षत्रिय होने के कारण प्यारा नहीं किन्तु आत्मा के कारण क्षत्रिय प्यारा है। देख ! संसार केवल संसार होने के कारण प्यारा नहीं, किन्तु आत्मा के कारण संसार प्यारा है। देख ! देवता केवल देवता होने के कारण प्यारे नहीं किन्तु आत्मा के कारण देवता प्यारे हैं। देख ! वेद केवल वेद होने के कारण प्यारे नहीं हैं किन्तु आत्मा के कारण वेद प्यारे हैं, देख ! भौतिक पदार्थ केवल भौतिक पदार्थ होने के कारण प्यारे नहीं हैं किन्तु आत्मा के कारण प्यारे हैं। देख ! सारा ब्रह्माण्ड केवल सारा ब्रह्माण्ड होने के कारण प्यारा नहीं किन्तु आत्मा के कारण सारा ब्रह्माण्ड प्यारा है। देख ! आत्मा वास्तव में देखने, सुनने, सोचने और विचार करने के योग्य है। मैत्रेयी ! देख, आत्मा के देखने, सुनने, सोचने, विचार करने से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समझ में आता है। (बृ० उप० २,४,५)

जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं होता उसको ब्रह्म कदापि स्वीकार नहीं करता। जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं होता उसको क्षत्र स्वीकार नहीं करता। जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं होता उसको देवता ग्रहण नहीं करते। जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं रहता उसको भूत (=प्राणि-मात्र) ग्रहण नहीं करते। जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं होता उसको ब्रह्माण्ड ग्रहण नहीं करता। ब्रह्म और आत्मा में अन्तर है। यह ब्रह्म, यह क्षत्र, यह दुनियाँ, ये भूत, ये देवता, ये सब आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

(बृ० उप० २,४,६)

अरे मैत्रेयी ! जैसे बजाए जाते हुए दुन्दुभी के बाहर निकले हुए शब्दों को पकड़ने के लिए कोई समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु दुन्दुभी के ग्रहण करने अथवा दुन्दुभी बजाने वाले के ग्रहण (पकड़) करने से शब्द का ग्रहण हो जाता है। वैसे ही वह आत्मा गृहीत होता है अथवा आत्मा के सञ्चालक जो इन्द्रिय-समूह हैं, वा प्राण हैं उनके ग्रहण (पकड़) करने से आत्मा गृहीत होता है।

(बृ० उप० २,४,७)

जैसे बजाये जाते हुए शङ्ख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने के लिए कोई समर्थ नहीं होता परन्तु शङ्ख के ग्रहण से अथवा शङ्ख के बजाने वाले के ग्रहण से वह शब्द गृहीत होता है वैसे वह आत्मा गृहीत होता है। (बृ० उप० २,४,८)

जैसे बजाई जाती हुई वीणा के बाहर निकलते हुए शब्दों के ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु वीणा के ग्रहण से अथवा वीणावादक के ग्रहण से वह शब्द गृहीत होता है। वैसे ही वह आत्मा भी अन्तर से गृहीत होता है, बाहर से नहीं।

(बृ० उप० २,४,६)

वह आत्मा अर्थात् जीवात्मा ऐसा है जैसे अग्नि पर गीली लकड़ियाँ चारों तरफ से स्थापित की जायें तो अग्नि से पृथक्-पृथक् धूमावली चारों तरफ से निकलती है। वैसे ही निश्चय, अरे मैत्रेयी ! इस महान् भूतात्मा (जीवात्मा) का निश्वसित यह सब है जो यह ऋग्वेद की ऋचाओं का ज्ञान, यजुर्गण मन्त्रों का ज्ञान, सामगान का ज्ञान, अथर्व मन्त्रों का प्रधान माधुर्य, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं। हे मैत्रेयी ! निश्चय, जीवात्मा के ये सब निःश्वास हैं अर्थात् प्रयत्न बिना ही निकले हुए हैं। ऐसा यह जीवात्मा है।

(बृ० उप० २,४,१०)

जिस प्रकार सभी जलों के रहने का एकमात्र गन्तव्य-स्थान समुद्र है, उसी तरह विविध स्पर्शों (छूने) के रहने का स्थान चर्म है। [उसी प्रकार सभी गन्धों का एकमात्र गन्तव्य स्थान दोनों नासिकाएँ हैं] सभी स्वादों के रहने का स्थान जिह्वा है, [उसी प्रकार

सभी रूपों का एक गन्तव्य स्थान चक्षु है ।] सभी शब्दों के रहने का स्थान कान है, इच्छा-शक्ति (कुवतें इरादा) के रहने का स्थान मन है, ज्ञान के रहने का स्थान बुद्धि है, ग्रहण-शक्ति के रहने का स्थान हस्त है। काम के रहने का स्थान लिङ्ग इन्द्रिय है। मल-विसर्जनों का स्थान गुदा है। गति-शक्ति के रहने का स्थान पाद है। उसी प्रकार वेदों के रहने का स्थान वाणी है। (बृ० उप० २,४,११)

"जिस प्रकार लवण (नमक) पानी में मिश्रित होकर उसके साथ एक होकर रहता है, और दिखाई नहीं देता क्योंकि वह पूर्णतः जल के सदृश हो जाता है। उसी प्रकार वह महा-सत्ता (अस्तित्व) अनन्त अपार ज्ञान ही है। पञ्चभूतों के संयोग द्वारा उनमें से वह (जीवात्मा) प्रादुर्भूत होकर उनके नष्ट होने पर इसी में विनष्ट हो जाता है। मरने के पश्चात् (उसके विषय में) ज्ञान और बोध बाकी नहीं रहते। इस प्रकार से याज्ञवल्क्य ने कहा।

(बृ० उप० २,४,१२)

इस पर **मैत्रेयी** ने कहा—महाराज ! इस (जीवात्मा) के विषय में आपने मुझे अचम्भे में डाल दिया, हे सम्मान के योग्य ऋषि जी ! आप कहते हैं, कि मरने के पश्चात् चिन्ता नहीं रहती। क्या यह वास्तव में सत्य है।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि वास्तव में मैं अचम्भे में नहीं डालता। देख ! यह जानने के लिए यथेष्ट है।

(बृ० उप० २,४,१३)

क्योंकि जहाँ 'दो' होते हैं* वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है दूसरा दूसरे को बोलता है। दूसरा दूसरे को विचार करता है। दूसरा दूसरे को जानता है। किन्तु वह आत्मा ही होता है। दूसरी चीज़ को किस तरह देखे, कोई चीज़ किस तरह सुने, कोई चीज़ किस तरह बोले। कोई चीज़ किस तरह विचार करे। कोई चीज़

---

* जैसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में। सुषुप्ति की दशा में तो किसी काम का भी नहीं होता, व अनुभव और ज्ञान की शक्ति रहती हैं, क्योंकि उस दशा में आत्मा अपने ही आप होता है।

किस तरह जाने। वह उसको कैसे जान सकता है जिससे सब कुछ जाना जाता है। देख, वह जानने वाले को किस तरह जाने।

(बृ० उप० २,४,१४)

स्थूल-शरीर और आत्मा

मैत्रेयी ने कहा स्वामिन्! आपका उपदेश उत्तम अधिकारी के लिए अधिक उपकारी है, परन्तु जो मध्यम अधिकारी हैं और जिनकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है और भाँति-भाँति के अनुचित भ्रम व सन्देह उत्पन्न करती है उनके वास्ते वाहक यथेष्ट मालूम नहीं होता। जो तत्त्व आपने प्रकाशित किए हैं, उन पर सोच और विचार करने की बहुत आवश्यकता है। यद्यपि वे स्वयं बहुत विस्तीर्ण हैं, तथापि उनकी व्याख्या मेरे लिए अवश्य लाभदायक प्रमाणित होगी। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं संक्षिप्त प्रश्न करूँ और आप सविस्तर उसके उत्तर दें।

याज्ञवल्क्य— मैत्रेयी! तू प्रश्न कर।

मैत्रेयी— हे स्वामिन्! आप आत्मा किसको कहते हैं? क्या यह शरीर ही आत्मा है? क्योंकि यह शरीर (यदि मान लिया जाय) तो कठिनता से वीर्य, पिता के शरीर का निचोड़ है, पिता के शरीर का अंश है और इसी कारण से पुत्र को कहीं-कहीं पिता की आत्मा स्वीकार किया गया है[1]। यह शृङ्खला अनादि है और परम्परा से ऐसा होता चला आता है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, ज्ञान इसी शरीर के गुण मालूम होते हैं और मरने के पीछे फिर यह बेहोश व बेजान हो जाता है। वास्तव में सब मनुष्य एक हैं, मूल-कारण एक मालूम होता है, संयोग और कर्म ने उनके आकारों में विभिन्नता उत्पन्न कर दी है। इसी तत्त्व पर चिन्तन करते हुए बहुत से मनुष्यों ने विविध प्रकार के मत पैदा

१. (i) आत्मा वै पुत्रनामाऽसि। श०ब्रा० १४,९,४,२९
(ii) आत्मासि पुत्र मा मृथाः। सामतन्त्र-ब्राह्मण १,५,१८

कर लिए हैं। कतिपय आत्मा को शरीर से पृथक् मानते हैं, कतिपय इस बात को केवल भ्रम बतलाते हैं। यद्यपि मैंने इस पर स्वयं विचार किया है, और मेरे निज विचार वेदों की शिक्षा के विरुद्ध नहीं हैं, परन्तु मैं आपके पवित्र मुखारविन्द से व्याख्या के साथ इसको सुनना चाहती हूँ, ताकि इस बात की असलियत भली भाँति प्रगट हो जाय और किसी प्रकार के आगामी भ्रम व सन्देह के उत्पन्न होने की हृदय में सम्भावना न रहे।

याज्ञवल्क्य— प्रिया! बहुत अच्छा। मैं इसका निर्णय अच्छी तरह करूँगा। तू एकाग्रचित्त होकर मेरे वचन सुन। प्राचीनकाल में इस प्रकार के मनुष्य वर्तमान थे जिनके मत व आचार वेदों की शिक्षा के विरुद्ध थे। उन सम्प्रदायों के नाम पृथक्-पृथक् हैं। इनमें से कोई देहात्मवादी कहलाता है, कोई शून्यवादी, कोई चारवाक, कोई क्षणिक-विज्ञानवादी[1]। इन सबके सिद्धान्त वास्तव में एक से हैं। केवल कर्म्मकाण्ड में कहीं-कहीं अन्तर पड़ गया है। चारवाक वाले प्रत्यक्ष-प्रमाण के सिवाय और किसी प्रकार के प्रमाण को, यथा अनुमान व आगम आदि को, नहीं मानते। शून्यवादी प्रत्येक बात को शून्य मानते हैं। देहात्मवादी इस स्थूल शरीर को ही आत्मा कहते हैं और जीवात्मा को उससे पृथक् वस्तु नहीं मानते। क्षणिक-विज्ञानवादी प्रत्येक वस्तु को क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली बताते हैं। परन्तु ये सब भ्रम में हैं और इसी कारण से इन सबको नास्तिक[2] अर्थात् ब्रह्म वा ईश्वर से विमुख कहते हैं।

---

१. ये सब सम्प्रदाय प्राचीन हैं, नवीन नहीं हैं, क्योंकि इनका पता प्राचीन दर्शनों के सूत्रों से भी लगता है।

२. इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक (बानी) बृहस्पति हुआ है, उसके प्रसिद्ध नास्तिक ग्रन्थ का नाम बृहस्पति-संहिता है। महाभारत में चारवाक को राक्षसी लिखा है और इसी प्रकार पञ्चरात्र व सूपति (शिव और विष्णु) को भी वैदिक धर्म का विरोधी स्वीकार किया गया है, क्योंकि किसी न किसी अङ्ग में इनकी क्रियाएँ वेद के विरुद्ध हैं, और इसलिए उनका अपने आपको वैदिक धर्म्म का अनुयायी बताना पूर्णतः मिथ्या है।

हे मैत्रेयी ! यह बात मैं तुझसे अललटप्पू ही नहीं कहता हूँ। किन्तु यह बात अटल सत्य पर भवित रखती है, कि यह आत्मा, जिसके साथ मिलने से शरीर में चैतन्यता उत्पन्न होती है, अविनाशी है।

जब जीव शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में चैतन्यता नहीं रहती और न किसी बात का बोध व ज्ञान रहता है। यदि कोई आत्मा शरीर से पृथक् न हो, तो बताओ किसके साथ मिलने से शरीर में जान पड़ती है और किसके पृथक् होने से वह बेजान होकर अपने आपको नहीं देख सकती। इसी प्रकार आत्मा को अपना प्रत्यक्ष ज्ञान वाहक इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य अपनी आँख से सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थों को देखता है, किन्तु आँख को विद्या के द्वारा देखता है। जो देखने वाला है वह देखने वाला ही रहता है, दिखाई देने वाला कभी नहीं हो सकता। जैसे विना सहारे के सहारा रखने वाला, विना क्रिया के कार्य करने वाला, विना सम्पूर्ण के अंश और विना कर्ता के कर्म नहीं हो सकता, वैसे ही बिना आत्मा के यह शरीर नहीं रह सकता। शरीर आत्मा से भिन्न है। देहात्मवादी नास्तिकों का विचार मिथ्या है और चारवाक आदि चार तत्त्वों का बना हुआ कहते हैं वह भी अज्ञानता की बातचीत करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चार नहीं, किन्तु पाँच तत्त्वों का बना हुआ है। परन्तु उनको गति-युक्त और परिपाटी के साथ काम करने वाला परमात्मा और जीवात्मा उनसे पूर्णतः पृथक् हैं।

मैत्रेयी— स्वामी जी महाराज ! यह अधिक उत्तम हो कि आप इन पाँच तत्त्वों के परस्पर सम्मिलन और सम्बन्ध का वर्णन करते हुए संक्षिप्त रूप से देह के विषय में भी वर्णन करें, क्योंकि आपने अभी कहा है कि देह इन तत्त्वों (जड़ पदार्थों) की बनी हुई है और उससे मुझको असलियत के समझने में सहायता मिलेगी।

याज्ञवल्क्य— भूत पाँच हैं, चार नहीं। इसमें चारवाक आदि ने गलती की है। वह पाँच भूत हैं—

आकाश, वायु (हवा), तेज (आग), जल (पानी) और

पृथिवी (जमीन)। इन पाँच के परस्पर मेल और सम्बन्ध से पच्चीस तत्त्व उत्पन्न हुए। उनका विवरण यह है*—

(i) आकाश के पञ्च तत्त्व— १. काम, २. क्रोध, ३. शोक, ४. मोह, ५. भय।

(ii) वायु के पञ्च तत्त्व— ६. चलन, ७. वलन (=ज्वलन), ८. धावन, ९. प्रसारण, १०. आकुञ्चन।

(iii) तेज के पञ्च तत्त्व— ११. क्षुधा, १२. तृषा, १३. आलस्य, १४. निद्रा, १५. कान्ति।

(iv) जल के पाँच तत्त्व— १६. शुक्र, १७. शोणित, १८. लार, १९. मूत्र, २०. प्रस्वेद।

(v) पृथ्वी के पाँच तत्त्व— २१. अस्थि, २२. माँस, २३. नाड़ी, २४. त्वचा और २५. रोम।

पहले पञ्च महाभूत अपञ्चीकृत थे। पश्चात् पञ्चीकृत हुए। ईश्वर की इच्छा से स्थूल सृष्टि द्वारा जीवन के भोग के अभिप्राय से उन पाँचों के परस्पर मिलाप को पञ्चीकरण कहते हैं।

जड़ पदार्थों (अनासिर) का किसी चेतन के विना अपने आप मिलकर विधिपूर्वक रूप धारण कर लेना कई कारणों से सम्भव नहीं जान पड़ता। उसमें बनाने वाले चेतन की आवश्यकता अवश्यमेव पाई जाती है।

सृष्टि-रचना के दौरान चेतन परमात्मा ने अलग-अलग उत्पन्न हुए पाँच महाभूतों का जिस प्रकार पञ्चीकरण किया

---

* उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों के संख्यानुसार अर्थ इस प्रकार हैं—

१. प्रत्येक प्रकार की इच्छा काम कहलाती है। २. गुस्सा, ३ फिकर, ४. मुहब्बत, ५. खुदी मेरा तेरा खौफ़, ६. बहना, ७. बलना, ८. दौड़ना, ९. फैलना, १०. सिकुड़ना, ११. भूख, १२. प्यास, १३. सुस्ती, १४. नींद, १५. रौनक, १६. वीर्य, १७. खून, १८. लार जो मुंह से खारिज होती रहती है। १९ पेशाब, २०. पसीना, २१. हड्डी, २२. मांस, २३. नाड़ी (रग), २४. त्वचा, २५, रोंगटे, बाल।

उसको अनुमान से इस प्रकार समझा गया है, कि पाँच भूतों में से एक-एक के दो-दो बराबर भाग किये । प्रत्येक के आधे को छोड़कर शेष आधे-आधे भाग के चार-चार सम-भाग किए । प्रत्येक के ये चार भाग अपने-अपने आधे भाग को छोड़ कर शेष दूसरे-दूसरे आधे भागों में जोड़ दिये । इस प्रकार प्रत्येक का पञ्चीकरण हो गया । यथा— पाँच मित्र कहीं यात्रा करने जा रहे थे, उन पाँच मित्रों के पास पाँच प्रकार के फल थे, एक के पास नारङ्गी, दूसरे के पास केला, तीसरे के पास अमरूद, चौथे के पास नाशपाती और पाँचवें के पास सेब था । उन्होंने अपने-अपने फलों के दो-दो टुकड़े किए और एक टुकड़ा अपने पास रख करके शेष एक-एक टुकड़े के चार-चार टुकड़े करके चार मित्रों में बाँट दिये । इसी प्रकार उन टुकड़ों के परस्पर मिलाप से पञ्चीकरण हुआ । इसी प्रकार आकाश के दो भाग हुए, एक भाग पृथक् रख छोड़ा, दूसरे आधे भाग के चार टुकड़े करके उन्हें वायु, अग्नि, जल, पृथिवी के आधे-आधे भागों में मिला दिया । फिर वायु के दो भाग करके एक भाग अलग रखकर, दूसरे आधे भाग के चार टुकड़े किये । उन्हें—आकाश, तेज, जल, पृथिवी के आधे-आधे भागों में मिला दिया । इस प्रकार तेज के दो भाग करके, एक भाग पृथक् रख छोड़ा, दूसरे आधे भाग के चार भाग करके आकाश, हवा, जल, पृथिवी के आधे भागों में मिलाया । जल के भी दो भाग करके एक भाग पृथक् रख लिया । दूसरे आधे भाग के चार भाग करके उन चार भागों को आकाश, वायु, अग्नि और पृथिवी के आधे-आधे भागों में मिला दिया । इसी प्रकार पृथिवी के भी दो भाग करके, एक भाग पृथक् रख छोड़ा और दूसरे भाग के चार भाग करके आकाश, वायु, अग्नि व जल में मिला दिए ।

इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच स्थूल भूतों से एक-एक से पाँच-पाँच होकर कुल पच्चीस तत्त्व बनकर एक दूसरे का परस्पर मिलाप हुआ । इन पच्चीस तत्त्वों की, जो स्थूल-शरीर में रहते हैं, विस्तीर्ण व्यवस्था यह है—

(i) [पञ्चीकृत] आकाश के पाँच तत्त्व* अर्थात् काम, क्रोध, शोक, मोह और भय में से—

(१) काम आकाश में वायु का भाग है। क्योंकि कामना-रूपी वृत्ति चञ्चल है और वायु भी चञ्चल है। इसलिए यह वायु का भाग है।

(२) क्रोध आकाश में तेज का भाग है, क्योंकि जब क्रोध होता है, तो सारा शरीर जलने लगता है। इसलिए यह तेज का भाग है।

(३) शोक आकाश में आकाश का मुख्य भाग है। क्योंकि जब शोक उत्पन्न होता है, तब शरीर शून्य हो जाता है और आकाश भी शून्य है। इसलिए यह आकाश का मुख्य भाग है।

(४) मोह आकाश में जल का भाग है क्योंकि जब लड़के आदि का मोह उत्पन्न होता है तो आँसू बहने लगते हैं। इसलिए यह जल का भाग है।

(५) भय आकाश में पृथिवी का भाग है, क्योंकि जब भय मालूम होता है, तो यह शरीर भी जड़ हो जाता है। जड़ता पृथिवी का लक्षण है। इसलिए यह पृथिवी का भाग है। इसी प्रकार—

---

* कतिपय ग्रन्थकारों ने सिर, कण्ठ (गला), हृदय (दिल), उदर (पेट) और कटि (कमर) को आकाश का तत्त्व बताया है। इनमें सिर आकाश का मुख्य भाग है क्योंकि अनहद शब्द का आश्रय है। कण्ठ आकाश में वायु का भाग है क्योंकि श्वास का आधार है। हृदय (दिल) आकाश में तेज का भाग है, क्योंकि पित्त का आश्रय है। उदर (पेट) आकाश में जल का भाग है, क्योंकि पिये हुए जल का आश्रय है। कटि (कमर) आकाश में पृथिवी का भाग है, क्योंकि गन्ध का आश्रय है। इस मत को मानने वाले काम, क्रोध, मोह को स्थूल देह के तत्त्व नहीं मानते, बल्कि लिङ्ग-देह के धर्म्म मानते हैं। दूसरे वेदान्त ग्रन्थकारों ने कामादि को लिङ्ग-देह का मुख्य धर्म्म माना है।

(ii) [पञ्चीकृत] वायु के पाँच तत्त्व अर्थात् चलन, बलन, धावन, प्रसारण और आकुञ्चन में से—

(६) चलन वायु में जल का भाग है क्योंकि जल चलता है, इसलिए यह उसका भाग है।

(७) वलन (=ज्वलन) वायु में तेज का भाग है, क्योंकि वलने का काम आग का है। इसलिए वह तेज का भाग है।

(८) धावन वायु में वायु का मुख्य भाग है, क्योंकि धावन अर्थात् दौड़ना वायु का काम है इसलिए यह वायु का मुख्य भाग है।

(९) प्रसारण वायु में आकाश का भाग है, क्योंकि फैलना आकाश का गुण है, आकाश फैला हुआ है, इसलिए वह आकाश का भाग है।

(१०) आकुञ्चन वायु में पृथिवी का भाग है। आकुञ्चन नाम सिकुड़ने का है, पृथिवी कठोर होती है इसलिए वह पृथिवी का भाग है। इसी प्रकार—

(iii) [पञ्चीकृत] तेज के पाँच तत्त्व अर्थात् क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा और कान्ति में से—

(११) क्षुधा (भूख) तेज में तेज का मुख्य भाग है, क्योंकि भूख में जो वस्तु खाई जाती है, भस्म हो जाती है। आग में भी प्रत्येक वस्तु जल जाती है इसलिए क्षुधा आग का मुख्य भाग है।

(१२) तृषा (प्यास) तेज में, वायु का भाग है क्योंकि प्यास से कण्ठ शुष्क होता है। सुखाना वायु का धर्म है क्योंकि वायु गीली और रसीली वस्तुओं को शुष्क करती है। एतदर्थ यह वायु का भाग है।

(१३) आलस्य (सुस्ती) तेज में पृथिवी का भाग है क्योंकि जब सुस्ती होती है, तो शरीर जड़ हो जाता है। पृथिवी भी जड़-स्वभाव वाली है। इसलिए आलस्य पृथिवी का भाग है।

(१४) निद्रा (नींद) तेज में आकाश का भाग है, क्योंकि जब नींद आती है तब शरीर शून्य हो जाता है। आकाश भी शून्यता वाला है इसलिए नींद आकाश का भाग है।

(१५) कान्ति तेज में जल का भाग है क्योंकि धूप में कान्ति घटती है और पानी भी घटता है। इसलिए कान्ति जल का भाग है। इसी प्रकार—

(iv) [पञ्चीकृत] जल के पाँच तत्त्व शुक्र, शोणित, लार, मूत्र और प्रस्वेद में से—

(१६) शुक्र (मनी) जल का मुख्य भाग है क्योंकि शुक्र सफेद रङ्ग का है और गर्भ का हेतु है, और जल भी सफेद है, और गर्भ का हेतु है, जैसे कि जल वृक्ष आदि के उत्पन्न करने का हेतु होता है। इसलिए शुक्र जल का मुख्य भाग है।

(१७) शोणित (खून) जल में पृथिवी का भाग मिला है।

(१८) लार जल में आकाश का भाग मिला है।

(१९) मूत्र (पेशाब) जल में अग्नि का भाग मिला है क्योंकि उसमें गरमी वर्तमान होती है और तेज का धर्म्म भी गरम है इसलिए मूत्र अग्नि का भाग है।

(२०) प्रस्वेद (पसीना) जल में वायु का भाग मिला है। इसी प्रकार—

(v) [पञ्चीकृत] पृथिवी के पाँच तत्त्व— अस्थि*, मांस, नाड़ी, त्वचा और रोम में से—

(२१) अस्थि (=हड्डी) में पृथिवी का मुख्य भाग मिला है क्योंकि हड्डी कठोर है। कठोरता पृथिवी का लक्षण है: इससे हड्डी पृथिवी का मुख्य भाग है।

(२२) मांस अर्थात् गोश्त पृथिवी में जल का भाग मिला है,

---

* नख, दन्त आदि भी अस्थि में अन्तर्भूत हैं।

क्योंकि मांस गीला होता है और गीलापन पानी का धर्म्म है। इसलिए यह जल का भाग है।

(२३) नाड़ी (अर्थात् नब्ज़) पृथिवी में तेज का भाग मिला है क्योंकि नाड़ी गरम रहती है। गरमी तेज की प्रकृति है इसलिए यह तेज का भाग है।

(२४) त्वचा अर्थात् चर्म पृथिवी में वायु का भाग है, क्योंकि त्वचा से गरमी व सरदी के स्पर्श (छूने) का ज्ञान होता है। वायु स्पर्श-गुण वाली है इसलिए यह वायु का भाग है।

(२५) रोमϕ (अर्थात् रोंगटे, बाल) पृथिवी में आकाश का भाग है, क्योंकि रोम शून्य हैं, काटने से उसमें कोई क्लेश अनुभव नहीं होता। आकाश भी शून्य है, अतः रोम आकाश का भाग है।

यह स्थूल देह के २५ तत्त्वों की व्याख्या की गई।

हे प्यारी मैत्रेयी! अब तू विचार कर कि इन पच्चीस तत्त्वों में से तू क्या है? मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ, कि इन सभों में से जीवात्मा कोई पृथक् और विशेष वस्तु है। वह इन सबका जानने वाला है जानने वाला जानी हुई वस्तु से सदा पृथक् रहा करता है और उसका अस्तित्व भी उस वस्तु से विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। अब तू देख! क्या यह सब तत्त्व अथवा इनमें से कोई एक तत्त्व स्वयं आत्मा हो सकता है? मैं कहूँगा कि कदापि नहीं। क्योंकि—

(१) क्रोध— जिस समय मनुष्य क्रोधाग्नि से उत्तेजित होता है, तब भी वह क्रोध और उसके परिणाम को जानता है, और जब नहीं होता तब भी जानता है। क्रोध तेज-तत्त्व का भाग है, इस कारण से क्रोध आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः पृथक् है।

(२) काम— जब मनुष्य काम-वासना के अधीन होता है तब भी वह उसको जानता है, और जब नहीं होता तब भी

ϕ केश और छोटे रोंगटे आदि रोम के अन्तर्भूत हैं।

जानता है। इस कारण से काम आत्मा नहीं, किन्तु वह उसका जानने वाला और उससे पूर्णत: न्यारा है।

(३) **शोक**— जब मनुष्य शोकानल से व्याकुल होता है तब भी वह शोक को जानता है, और जब नहीं होता तब भी जानता है। इसलिए शोक आत्मा नहीं, बल्कि आत्मा उसका जानने वाला है, और उससे पूर्णत: न्यारा है।

(४) **मोह**— जब मनुष्य मोह-ग्रस्त होता है तब मोह-दशा को जानता है। जब नहीं होता तब भी जानता है। इसलिए मोह आत्मा नहीं, किन्तु उसका जानने वाला और पूर्णत: उससे पृथक् है।

(५) **भय**— जब मनुष्य भयातुर होता है तब भी मनुष्य को उसका बोध होता है और जब नहीं होता तब भी उसको जानता है। इसलिए भय आत्मा नहीं, किन्तु उसका जानने वाला और उससे पूर्णत: पृथक् है।

(६) **चलन**— जब शरीर गति करता है अर्थात् चलता है तब भी आत्मा जानता है, और जब नहीं चलता है तब भी आत्मा जानता है। इसलिए चलना आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णत: न्यारा है।

(७) **बलन**— जब शरीर बले अर्थात् दग्ध हो तब भी आत्मा उसे जानता है और जब न हो तब भी जानता है। इसलिए बलना आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णत: न्यारा है। इसी प्रकार –

(८, ९, १०) **धावन, प्रसारण, आकुञ्चन**—इनको भी जब ये वर्तमान हों तो आत्मा इन्हें जानता है और न हों तब भी आत्मा जानता है। इसलिए वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णत: न्यारा है। इसी प्रकार—

(**११ से १५ पर्य्यन्त) क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति (तेज)**— इन पाँच तत्त्वों को जब वह हों तब भी आत्मा जानता

है और न हों तब भी जानता है, इसलिए वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है। इसी प्रकार—

(१६ से २० पर्य्यन्त) शुक्र, शोणित, लार, मूत्र, प्रस्वेद— इन जल के पाँच तत्त्वों को जब वह हों तब भी और न हों तब भी आत्मा जानता है इसलिए वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है। इसी प्रकार—

(२१ से २५ पर्य्यन्त) अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा, रोम— इन पृथिवी के पाँच तत्त्वों को जब वे हों तब भी और जब न हों तब भी आत्मा जानता है, इसलिए वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णतः पृथक् है।

इस तत्त्व-विचार से निश्चय करना चाहिए, कि ये सब तत्त्व पाँच महाभूत के हैं, आत्मा उनसे पृथक् है। इसी प्रकार यह भी समझ में आता है, कि जब स्थूल शरीर ही आत्मा नहीं तो उसके धर्म्म अर्थात्— (१) नाम, (२) जाति*, (३) आश्रम, (४) वर्ण, (५) सम्बन्ध, (६) परिणाम, (७) जन्म वा मरण आदि का भी आत्मा से कुछ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जन्म से पहिले नाम नहीं था। नाम कल्पित है और जब शरीर के पृथक्-पृथक् अङ्गों पर विचार किया जाय, तब नाम का पता नहीं मिलता। इससे नाम शरीर में कल्पित है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

जातीयता (जैसे त्रिवेदी, कुम्हार आदि) भी शरीर की होती है। आत्मा की नहीं होती, और वह भी केवल स्थूल-देह में कल्पित कर ली गई है। अन्यथा सूक्ष्म-शरीर का उससे किञ्चिन्मात्र

---

* २. कौमियत, ३. ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ४. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ५. रिश्तेदारी, ६. अवस्था (तग़इयर हालत) जैसे लड़कपन, जवानी, बुढ़ापा आदि।

भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वह आत्मा नहीं। आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

चार आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास ये भी स्थूल-शरीर के हैं। इसलिए यह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा इनका जानने वाला और इनसे पूर्णतः न्यारा है।

वर्ण— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या रङ्ग जैसे— गोरा, काला, सांवला आदि केवल स्थूल-शरीर में है। इसलिए वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है।

सम्बन्ध— जैसे माता, पिता, गुरु, शिष्य आदि स्थूल-शरीर से नाता रखते हैं। स्थूल-शरीर आत्मा नहीं इसलिए सम्बन्ध आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और पूर्णतः उससे पृथक् है।

परिणाम— (जवानी, बुढ़ापा आदि) का सम्बन्ध भी केवल स्थूल शरीर से है। इसलिए परिणाम आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

उत्पत्ति और मृत्यु—ये भी शरीर की हुआ करती हैं, आत्मा की नहीं होती क्योंकि आत्मा अनादि है। यदि इसका जन्म व मरण मानोगे, तो वह अन्त वाला ठहरेगा, वेद-शिक्षा के प्रतिकूल प्रमाणित होगा और मीमांसा आदि ने जो कर्म करने की आज्ञा दी है वह सब व्यर्थ ठहरेगी क्योंकि जब जन्म होने से पूर्व और मरने के पश्चात् आत्मा नहीं था तो अब लोगों की वर्तमान दशा में सुख-दुःख आदि का भेद क्यों है? यह भेद केवल उनके पहले जन्म के कर्मों का फल ज्ञात होता है और श्रुति (=वेद) आदि भी इसी बात के अनुकूल शिक्षा देते हैं। यदि नास्तिकों के कथन के अनुसार आत्मा इसी शरीर के साथ जन्मता व मरता मान लिया जाय, तो उसमें वही पूर्वोक्त दोष संघटित होते हैं अर्थात् बिना कर्म्म किए हुए इस जन्म में सुख-दुःख भोगना और कर्म करते-करते मृत्यु होने पर उसके फल से वञ्चित रहना। ऐसा नहीं होता, जब आत्मा का जन्म नहीं तो वह मरता भी नहीं है, क्योंकि जो प्राणी उत्पन्न होगा वह अवश्य

मरेगा। आत्मा उत्पत्ति, युवा, वृद्धावस्था, नाश आदि षट् कर्मों से पूर्णतः न्यारा है। यह सब स्थूल देह के कर्म हैं। इसलिए जन्म-मरण आदि आत्मा नहीं। किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २, २२)

अर्थ— जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है वैसे ही (आत्मा) पुराने शरीर को छोड़कर नए शरीर को धारण करता है।

इसके आगे सूक्ष्म-शरीर का वर्णन होगा।

सूक्ष्म-शरीर और आत्मा

स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक और शरीर भी है, जो आत्मा के लिए खोल की नाँई प्रमाणित होता है। स्थूल शरीर अपेक्षा-कृत ठोस है और दिखाई देता है। दूसरा सूक्ष्म-शरीर* है जो पाँच प्राण, पाँच ज्ञान-इन्द्रिय, पाँच कर्म्म-इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समूह है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरण आदि में भी जीव के साथ रहता है। यह दो प्रकार का है— (१) भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म तत्त्वों के परमाणुओं से बना है। (२) जाति϶

* कतिपय ग्रन्थकारों ने सूक्ष्म-शरीर में कर्म्म-इन्द्रियों को शामिल नहीं किया है। उसकी गणना स्थूल शरीर में ही रक्खी है और सूक्ष्म शरीर में पञ्च कर्म-इन्द्रियों के स्थान में पञ्च सूक्ष्म-भूत गिनाए हैं। परन्तु प्रत्येक वस्तु इन्हीं पाँच तत्त्वों से बनी है, इसलिए उनकी इस प्रकार की गणना उचित नहीं जान पड़ती। (१) कर्ण, (२) स्पर्श, (३) चक्षु, (४) रसना, (५) घ्राण, (६) जिह्वा, (७) हस्त, (८) पांव, (९) लिङ्ग, (१०) गुदा।

϶ स्वाभाविक।

अर्थात् जीव के जाति-गुण। **तीसरा कारण-शरीर** जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गहरी निद्रा आती है। वह प्रकृति-रूप (जड़ शक्ति होने से) सब स्थानों में वर्तमान और सब जीवों के लिए एक समान है। इन तीन शरीरों के अतिरिक्त योगियों का एक **चौथा शरीर** 'तुरीय' है। यह वह है जिसमें समाधि से परमेश्वर के आनन्द-स्वरूप में जीव मग्न होता है। इस समाधि के प्रभाव से उत्पन्न पवित्र शरीर का बल मुक्ति में भी पूरा-पूरा सहायक रहता है।

सूक्ष्म-शरीर का वृत्तान्त

यह शरीर सत्तरह तत्त्वों का समूह है, उनमें पाँच ज्ञान-इन्द्रिय हैं, जो ज्ञान के साधन हैं। अर्थात् (१ से ५ पर्य्यन्त) श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण। पाँच कर्म-इन्द्रिय हैं जो कर्म करती हैं। अथवा कर्म करने के यन्त्र (औजार) हैं अर्थात् (६ से १० पर्यन्त) वाक् (६) पाणि (७) पाद (८) उपस्थ (९) और गुदा (१०)। पञ्च प्राण (११ से १५ पर्यन्त) अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान हैं। सोलहवां मन सङ्कल्प-विकल्प की वृत्ति है, और सत्तरहवीं बुद्धि जो निश्चय-रूप वृत्ति है।

ये सत्तरह तत्त्व हैं। अपञ्चीकृत भूतों का वर्णन ऊपर हो चुका है। उनका पुनः वर्णन यहाँ व्यर्थ वृद्धि का कारण होगा। एतदर्थ इसे छोड़ देते हैं। जो तत्त्व इनसे पृथक् हैं उनको पञ्चीकृत कहते हैं, और जो सूक्ष्म-भूत (अनासिर लतीफ़) हैं उनको पञ्च तन्मात्र* कहते हैं।

इन अपञ्चीकृत महाभूतों से जो पाँच कर्म्म-इन्द्रिय और पाँच ज्ञान-इन्द्रिय बनी हैं उनके पारस्परिक जोड़ और पारस्परिक सम्बन्ध को सुनो—

---

* शब्द (आवाज), स्पर्श (लंस), रूप (शकल), रस (जायका), गन्ध (बू) यह पांच सूक्ष्म तत्त्व (लतीफ अनासिर) वास्तव में स्थूल तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाले और उनके कारण हैं। यथा आकाश का शब्द से सम्बन्ध है, वायु का स्पर्श से, तेज का रूप से, जल का रस से, पृथिवी का गन्ध से। पञ्च तन्मात्रों के विना पञ्च महाभूत कभी स्थिर नहीं रह सकते।

(१—२) आकाश के सत्त्व-गुण* का भाग श्रोत्र (सामा) है और आकाश के रजोगुण का भाग वाक् (वाणी या ज़बान) है। श्रोत्र-इन्द्रिय (कान) आवाज़ सुनतो है और वाक् इन्द्रिय (ज़बान) शब्द का उच्चारण करती है। श्रोत्र ज्ञानेन्द्रिय और वाक् कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध है।

(३—४) वायु के सत्त्व-गुण का भाग त्वचा (लामसा) है और वायु का रजोगुण वाला भाग पाणि (=हाथ) है। त्वचा इन्द्रिय स्पर्श (लंश) को ग्रहण करती है और हाथ उसका निर्वाह करता है। त्वचा ज्ञानेन्द्रिय है और हाथ कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों का एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध है।

(५—६) तेज के सत्त्व-गुण का भाग चक्षु (बासरह) है और तेज के रजोगुण का भाग पाद (पाँव) है। चक्षु इन्द्रिय (आँख) रूप का ग्रहण करती है और पाद इन्द्रिय (पाँव) वहां ले जाती है। एतदर्थ चक्षु ज्ञानेन्द्रिय है और पाद कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों का एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध है।

(७—८) जल के सत्त्व-गुण का भाग जिह्वा (ज़ायका) है और जल के रजोगुण का भाग उपस्थ (आला तनासुल) है। जिह्वा (=फ़बान) रस को ग्रहण करती है और उपस्थ इन्द्रिय उसका त्याग करती है। जिह्वा ज्ञानेन्द्रिय है और उपस्थ कर्मेन्द्रिय है। इन दोनों में से प्रत्येक का एक-दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध है।

(९—१०) पृथिवो के सत्त्व-गुण का भाग घ्राण (बीनी) है और रजोगुण का भाग (मेकद) है। घ्राण (या शामा) इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है, गुदा-इन्द्रिय गन्ध का परित्याग करती है। एतदर्थ नासिका ज्ञान-इन्द्रिय है और गुदा (मेकद) कर्म-इन्द्रिय है। इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध है।

---

* प्रकृति के गुण तीन हैं— सत्त्व, रज और तम। इनका वर्णन आगे आवेगा। सत्त्व में प्रकाश, प्रयत्न, सूक्ष्मता इत्यादि हैं। रज में कर्म-शक्ति, ईर्ष्या (हसद) आदि हैं। तम में अन्धकार, आलस्य, मलीनता आदि हैं।

(११—१५) इसी प्रकार इन पाँच भूतों के रजो-गुण के भाग से पाँच प्राण बने हैं और—

(१६—१७) इन्हीं पाँच भूतों के सत्त्व-गुण के भाग से मिलकर अन्तःकरण बना है। अन्तःकरण में मन और बुद्धि संयुक्त हैं। यद्यपि इसको अन्तःकरण-चतुष्टय भी कहते हैं और इस प्रकार मन, बुद्धि के साथ-साथ चित्त और अहङ्कार का सम्मिलन मानते हैं। वास्तव में अहङ्कार और चित्त ये दोनों मन व बुद्धि से पृथक् नहीं हैं।

यह अपञ्चीकृत महाभूतों के सत्तरह तत्त्वों की व्याख्या व सूक्ष्म-शरीर का वर्णन है।

इन सत्तरह तत्त्वों पर जिनसे सूक्ष्म-शरीर बना है, विचार करने से ज्ञात होता है कि वह आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा इनको जानने वाला और इनसे पूर्णतः न्यारा है क्योंकि जब कान शब्द को सुने तब भी और जब न सुने तब भी उसको आत्मा जानता है। अतएव श्रवण-शक्ति आत्मा नहीं किन्तु आत्मा उसको जानने वाला और उससे पूर्णतः पृथक् है।

इसी प्रकार स्पर्श, चक्षु, रसना और घ्राण अपने-अपने केन्द्र पर स्थिर रहें तब भी और न स्थिर रहें तब भी आत्मा उनको जानता है। अतएव वे आत्मा नहीं हैं, किन्तु आत्मा उनको जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है।

इसी प्रकार जिह्वा, हाथ, पाँव, उपस्थ, गुदा—ये कर्म-इन्द्रियाँ जब अपना काम करती हैं तब भी और जब कर्म्म नहीं करतीं तब भी आत्मा उनको जानता है। इसलिए वे आत्मा नहीं किन्तु आत्मा उनको जानने वाला और उनसे पूर्णतः न्यारा है।

इसी प्रकार मन जब सङ्कल्प-विकल्प करे तब भी और जब सङ्कल्प-विकल्प न करे तब भी आत्मा उसको जानता है। इसलिए वह आत्मा नहीं किन्तु आत्मा उसको जानने वाला और पूर्णतः उससे न्यारा है।

जब बुद्धि निश्चय करे तब भी और जब निश्चय न करे तब भी आत्मा उसको जानता है। इसलिए वह आत्मा नहीं किन्तु

आत्मा उसको जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है। और फिर उपनिषत् में इनसे आत्मा को पृथक् कहा भी है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठोपनिषत् १, ३, ३-४)

अर्थ— आत्मा को रथ जान। शरीर को तू रथ अनुमान कर और बुद्धि को सारथि तथा मन को लगाम की रस्सी समझ ले और इन्द्रियों को हय (अश्व) कहते हैं, (प्राण के बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः इन्द्रियों को अश्व कहने से प्राणरूप क्रिया से युक्त इन्द्रियों का शरीर रूपी रथ के साथ बान्धना अभिप्रेत है)। उनका चरागाह शब्द आदि विषय है और इन्द्रिय व मन से सहित आत्मा को पण्डित-गण भोक्ता कहते हैं।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

(कठोपनिषत् १, ३, १०)

अर्थ— इन्द्रियों से न्यारे विषय हैं। विषयों से परे मन है। मन से परे बुद्धि है। और जो बुद्धि से परे है वह आत्मा है।

इसी प्रकार **'कारण-शरीर'** आदि को भी आत्मा से पृथक् जानना चाहिए।

पञ्चकोश

मैं समझता हूँ, कि देहात्मवादियों का भ्रम देह-विचार से जाता रहेगा, और उन्हें आत्मा को देह से पृथक् स्वीकार करने में कोई इन्कार न होगा। अब मैं और प्रकार के विश्वास रखने वालों के मतों का निषेध करता हूँ—

एक सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास है, कि 'प्राण' ही आत्मा है। वही शरीर का परिचालक है और शरीर उसका आधार है। वह उसी के आश्रय है। इससे उसी को आत्मा मानना चाहिए। इन लोगों को **'प्राणात्मवादी'** कहते हैं।

कतिपय जन **'मन'** को आत्मा कहते हैं। क्योंकि उनकी समझ में मन सबका परिचालक व अधिपति है। उनका नाम **'मन-आत्मवादी'** है।

बाजे जन **'बुद्धि'** को ही आत्मा मानते हैं, क्योंकि उनके विचार में बुद्धि ही सब कुछ है। ये **'बुद्धयात्मवादी'*** कहलाते हैं।

इस विचार से निर्णय हो जाता है कि क्या इनके मत भ्रम-ग्रस्त हैं अथवा सत्य हैं।

अब मैं पञ्चकोशों का संक्षिप्त रूप से वर्णन करता हूँ—

कोश के अर्थ खोल, म्यान, भण्डार और सन्दूक के हैं और कोशकार एक कीट के घर को भी 'कोश' कहते हैं। आत्मा के ऊपर खोल के होने के कारण 'अन्नमय' आदि खोल (Cover) को कोश का नाम दिया गया है। ये कोश संख्या में पाँच हैं और इनके नाम ये हैं—

(१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश और (५) आनन्दमय कोश।

(१) अन्नमय-कोश

अन्नमय-कोश खाल (=चर्म) से लेकर अस्थियों तक मृत्तिका (मिट्टी) का समूह है। इसका उपादान-कारण यह है कि माता-पिता ने जो पृथिवी से उत्पन्न अन्न खाया था उससे वीर्य (मनी) बनकर माता के गर्भ में स्थित हुआ, और उसने बच्चे के रूप में जन्म

* जैसे बौद्ध आदि।

लेकर आहार आदि से पालन पाकर उन्नत और विकसित हुआ और मरने के पश्चात् फिर मिट्टी में ही मिल रहता है। इसी कारण से यह स्थूल देह 'अन्नमय कोश' कहलाती है। यह सुख-दुःख के अनुभव-रूप भोग का स्थान है।

यह 'अन्नमय कोश' जन्म से पहले नहीं था, मरने के पीछे नहीं रहेगा। किन्तु आत्मा नित्य है। उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। इस कारण से अन्नमय कोश आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उस अन्नमय कोश को जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

(२) प्राणमय-कोश

प्राणमय कोश में पाँच कर्म-इन्द्रियों के परिचालक पञ्च प्राण संयुक्त हैं। पाँच कर्म-इन्द्रियों की व्याख्या हो चुकी है। दुहराने की आवश्यकता नहीं। पञ्च प्राणों के नाम प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान हैं। शरीर में उनकी अपनी-अपनी क्रियाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) प्राण-वायु के रहने का स्थान हृदय है और वह चौबीस घण्टों में इक्कीस हज़ार छः सौ बार आता-जाता है।

(२) अपान-वायु के रहने की जगह गुदा स्थान है। उसका काम मल-मूत्र (पेशाब व पाखाना) के त्याग करने का है।

(३) समान-वायु नाभि में रहता है और जिस प्रकार माली कूप के पानी को नालियों के द्वारा सम्पूर्ण बाग़ में पहुँचाया करता है उसी तरह यह हवा भी अन्न-रस को नसों आदि के मार्ग से सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाया करती है।

(४) उदान-वायु हलक में रहता है और खाए-पिए अन्न-जल को पृथक् करता हुआ खींचता रहता है और उससे बल व पुष्टि आती है।

(५) व्यान-वायु सारे शरीर में रहता है और इच्छा आदि कार्य इसी के सहारे हुआ करते हैं।

यह पाँच प्राणों के रहने के स्थानों और उनके परिपाटी-वार कामों का वर्णन है।

यह पाँच प्राण सम्पूर्ण शरीर में रहते हुए उसको पुष्टि देते रहते हैं और इन्हीं की सहायता से सारी इन्द्रियाँ भी बल पाकर अपने-अपने काम में प्रवृत्त रहती हैं।

अब विचार कर मनुष्य जब सो जाता है ये सब प्राण-वायु अपना-अपना काम करते रहते हैं। यदि कोई महिमान उस समय आ जावे, तो ये उसका सम्मान, आदर व सत्कार नहीं कर सकते। यदि कोई चोर धन व सम्पत्ति चुरा ले जाय तो ये उसकी रक्षा नहीं कर सकते। इससे प्रमाणित होता है कि वे जड़ हैं, चैतन्य नहीं, चैतन्य आत्मा है। वे आत्मा के सहारे हैं। एवम् ये आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा इनको जानने वाला और इनसे पूर्णतः न्यारा है।

(३) मनोमय कोश

पाँच कर्म्म-इन्द्रियों सहित मन, मनोमय कोश कहलाता है। कर्म्म-इन्द्रियों की व्याख्या हो चुकी है। अस्तु, यहाँ उनका वर्णन निरर्थक है।

इस शरीर में जिसके प्रभाव से अहंकार, धन-सम्पद् की ममता, मानापमान इत्यादि उत्पन्न होते हैं वह मन कहलाता है।

काम, क्रोध के समय यह विकार-ग्रस्त मन सच्चाई और नेकी के मार्ग से भ्रमित होकर बहक जाता है। उस समय 'साक्षी' आत्मा उसकी इस वृत्ति का गवाह रहता है। इसलिए यह मन आत्मा नहीं, प्रत्युत यह सूक्ष्म-देह रूप है, आत्मा उसको जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

(४) विज्ञानमय कोश

पाँच ज्ञान-इन्द्रियों सहित बुद्धि 'विज्ञानमय कोश' कहलाती है। ज्ञान-इन्द्रियों का वर्णन पहले कर चुके हैं। बुद्धि अन्तःकरण

की निश्चयात्मिका वृत्ति है। मन तो सङ्कल्प-विकल्प उठाता है परन्तु बुद्धि एक बात को सही मानकर उस पर विश्वास करते हुए स्थिर हो जाती है। इस बुद्धि का यह हाल है कि आलस्य और प्रमाद आदि के रोगों में बेकाम हो जाती है और अपना काम नहीं कर सकती। इसलिए यह आत्मा नहीं, प्रत्युत आत्मा इसको जानने वाला और इससे पूर्णतः पृथक् है।

(५) आनन्दमय कोश

जिसके द्वारा जीवात्मा प्रेम, अनुराग, हर्ष, शोक, न्यून वा अधिक सुख भोगता है वह आनन्दमय कोश कहलाता है। वह आनन्दमय कोश क्षण-भङ्गुर अर्थात् बहुत थोड़ी देर रहने वाला और अचिर-स्थायी है। इसकी अवस्था एक-रस नहीं रहती। इसके विरुद्ध जीवात्मा सदा स्थिर रहने वाला और सदा नित्य वस्तु है। इसलिए यह आनन्दमय कोश आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा इसको जानने वाला और इससे पूर्णतः न्यारा है।

ये पाँच कोश वास्तव में आत्मा का अनुभव करने के उपाय हैं, इनके बिना आत्मा का अनुभव किसी भी प्रकार हो नहीं सकता। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि यह सब बड़े उपयोगी हैं, परन्तु जिस अनुभव से या जिसके अनुभव से ये पाँच कोश समझ में आते हैं उस पर कौन सन्देह करेगा ? कोई भी नहीं। इसलिए आत्मा पाँच कोश से न्यारा मालूम होता है। पाँच कोश जड़ हैं और आत्मा चैतन्य है।

यद्यपि (१) प्राणमय-कोश (२) मनोमयकोश (३) विज्ञानमयकोश और (४) आनन्दमय-कोश देह-रूप ही हैं फिर भी इनमें से—

(१) प्राणमय-कोश केवल रजोगुण-प्रधान की अवस्था है और (२) मनोमय-कोश रजोगुण-सहित सत्त्वगुण-प्रधान की अवस्था है। और—

(३, ४) विज्ञानमय-कोश व आनन्दमय-कोश केवल सत्त्वगुण-प्रधान की अवस्थाएँ हैं।

मैं समझता हूँ कि इस संक्षिप्त व्याख्या से ही प्राणात्मवादी और बुद्ध्यात्मवादियों की तर्कणाओं की गुञ्जाइश नहीं रहती और उनकी गलती जो वे इस विषय में करते हैं, सहज ही समझ में आ जायगी। उन लोगों के मत में विचारों की शक्ति का केन्द्र आत्मा नहीं प्रत्युत उससे कहीं बहुत नीचे है, क्योंकि जिन-जिन वस्तुओं को इन लोगों ने आत्मा मान रक्खा है वे जड़ प्रकृति से बनी हुईं जड़-स्वरूप हैं और आत्मा के सहारे कायम हैं। उनमें स्वयमेव स्थित रहने की सामर्थ्य नहीं है और आत्मा के बिना कुछ भी काम नहीं कर सकतीं।

हे मैत्रेयी! जिसके बिना शरीर चल-फिर नहीं सकता, जिसके बिना प्राण कोई क्रिया नहीं कर सकता, जिसके बिना मन सङ्कल्प-विकल्प नहीं उठा सकता, जिसके बिना बुद्धि निश्चय नहीं कर सकती और जिसके बिना किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिल सकता वह आत्मा है। वह इन सबका सञ्चालक, इन सबका स्वामी, इन सबका जानने वाला और इन सबसे पूर्णतः न्यारा है।

तीन अवस्थाएँ और आत्मा

हे प्रिय मैत्रेयी! जैसे ऊपर वर्णन कर चुके हैं वैसे ही आत्मा तीन अवस्थाओं से भी न्यारा है। आत्मा के अन्वेषण से भी, माला के सूत्र की तरह, समझ में आता है कि जिस प्रकार कुल फूलों को बेधता हुआ सूत्र माला में मौजूद रहता है. वैसे ही तीन अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में आत्मा बराबर मौजूद रहता है। किसी अवस्था में उसका अभाव नहीं होता।

स्वप्न और सुषुप्ति के अतिरिक्त इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान का और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए इस ज्ञान के संस्कार का जो समय आधार होता है वह 'जाग्रत्-अवस्था' कहलाती है। इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान के सिवाय शेष सब संस्कार जो जाग्रत्-अवस्था में उत्पन्न हुए थे उनके उद्‌बोधन के समय का आधार 'स्वप्न' कहलाता है। सुख व शान्ति की गहरी निद्रा के समय का आधार 'सुषुप्ति' कहलाता है।

(१) जाग्रत्-अवस्था

जिस दिशा में मनुष्य जाग्रत् रहकर संसार का व्यवहार करता है उस हालत को जाग्रत् अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में चौदह 'करण' अध्यात्म-रूप[1] हैं; उनके चौदह 'देवता' अधिदैव[2], और उनके चौदह विषय अधिभूत[3] कहलाते हैं। यह बयालीस तत्त्व जिस अवस्था में अपना-अपना व्यवहार करते हैं उसका नाम जाग्रत् कहा जाता है। चौदह करण ये हैं—

(अ) पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ—(१) कान, (२) त्वचा, (३) चक्षु, (४) जिह्वा और (५) घ्राण। पाँच कर्म-इन्द्रियाँ— (६) वाक्, (७) पाणि, (८) पाद, (९) उपस्थ और (१०) गुदा। ये दस 'बाह्य' करण हैं। चार अन्तःकरण ये हैं— (११) मन, (१२) बुद्धि, (१३) चित्त, (१४) अहङ्कार।

(इ) चौदह करणों में रहने वाली शक्तियाँ उनकी 'देवता' कहलाती हैं।

(उ) चौदह करणों के 'विषय' अर्थात् जिनको करण ग्रहण करते हैं, क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(i) ज्ञान-इन्द्रियों के विषय क्रमशः (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप, (४) रस, (५) गन्ध हैं।

(ii) कर्म-इन्द्रियों के विषय क्रमशः (६) वचन, (७) आदान[4], (८) गमन, (९) रति[5], (१०) मल-त्याग।

---

१. आत्मा के आधार पर रहने वाली इन्द्रियाँ 'अध्यात्म' कहलाती हैं।

२. इन्द्रियों में रहने वाली शक्तियाँ, जिनको इन्द्रियाँ अनुभव नहीं कर सकतीं प्रत्युत उन्हीं के द्वारा और चीजों को अनुभव करती हैं, 'अधिदैव' कहलाती हैं।

३. इन्द्रियों के विषय, जिनको इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं, 'अधिभूत' कहलाते हैं।

४. लेना।   ५. सोहबत, भोग।

(iii) अन्तःकरण के चार विषय क्रमशः (११) सङ्कल्प-विकल्प*, (१२) निश्चयφ, (१३) स्मरण-रूप चिन्तन, (१४) अहंपना हैं।

इनमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत की त्रि-पक्षी बनती है अर्थात् त्रिगुण अर्थात् 'इन्द्रिय', उसकी 'शक्ति' और उसके 'विषय' का स्थापन होता है। इस त्रिगुण में यदि तीन में से एक भी न हो, तो काम नहीं चलता अर्थात् यदि इन्द्रियाँ हैं और उनमें शक्ति नहीं तो वह विषय-रस का लाभ नहीं कर सकतीं, न अपना काम पूरा कर सकतीं हैं। और यदि इन्द्रियाँ और शक्ति दोनों हैं और विषय प्रस्तुत नहीं, तब भी कुछ काम नहीं बनता। इसी प्रकार यदि शक्ति और विषय हैं और इन्द्रियाँ नहीं हैं तब भी व्यवहार भलीभाँति सम्पादित नहीं हो सकता।

इस त्रिगुणी की परिपाटी निम्नलिखित चित्र से सुस्पष्ट प्रगट होगी—

(क) ज्ञान-इन्द्रियाँ

अध्यात्म	अधिदैव	अधिभूत
(१) श्रोत्र	सुनने की शक्ति	शब्द
(२) त्वचा	छूने की शक्ति	स्पर्श
(३) चक्षु	देखने की शक्ति	रूप
(४) जिह्वा	चखने की शक्ति	रस
(५) घ्राण	सूंघने की शक्ति	गन्ध

प्राय: जिन भूतों से जिन-जिन इन्द्रियों का सम्बन्ध है उनको उसका 'देवता' कहते हैं। जैसे श्रोत्र का देवता 'दिशा', त्वचा का 'वायु', चक्षु का 'सूर्य', वाक् का 'अग्नि' इत्यादि-इत्यादि।

---

* जिस चीज का सङ्कल्प किया जाय वह मन का विषय है।

φ जिस चीज या बात का निश्चय किया जाय वही बुद्धि का विषय है।

(ख) कर्म्म-इन्द्रियाँ

(६) वाक्	बोलने की शक्ति	वचन
(७) हस्त	पकड़ने की शक्ति	लेना-देना
(८) पाद	चलने की शक्ति	गमन
(९) उपस्थ	भोगने की शक्ति	रति, भोग
(१०) गुदा	निकालने की शक्ति	मल-त्याग

(ग) अन्तःकरण

(११) मन	सङ्कल्प की शक्ति	सङ्कल्प-विकल्प
(१२) बुद्धि	निश्चय की शक्ति	निश्चय
(१३) चित्त	चिन्ता की शक्ति	चिन्तन (स्मरण)
(१४) अहंकार	अहंपन की शक्ति	अहंपना

जाग्रत् अवस्था में (१) आत्मा का स्थान 'आँख' है। यद्यपि आत्मा सारे शरीर में सिर से पाँव तक व्याप्त है परन्तु जाग्रत् अवस्था में संसार के अधिक व्यवहार आँखों के द्वारा विशेषतः होते हैं अतः आत्मा का स्थान आँख कहा गया है। (२) 'क्रिया' शक्ति है। (३) 'वैखरी' (=मुँह से निकलती हुई) वाणी है। (४) 'स्थूल' भोग है। (५) गुण 'रज' है। (६) 'विश्व' उसका नाम है और वही जाग्रत् का अभिमानी है।

(२) स्वप्न-अवस्था

जाग्रत्-अवस्था में जो चीज़ें देखने में आईं, जो सुनी गईं, जो कही गईं, या भोगी गईं, उन सबकी परछाईं वा संस्कार 'हीना' नामक नाड़ी में, जो कण्ठ में है, पड़ता है। जब नींद आती है, तो उन संस्कारों से उद्बुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। और सोया हुआ मनुष्य नाना प्रकार के स्वप्न देखता है और स्वप्न में ही व्यवहार करता है। इसी को 'स्वप्न-अवस्था' कहते हैं।

स्वप्न की अवस्था में जीवात्मा का (१) स्थान 'कण्ठ' है, (२) 'मध्यमा' वाचा है (३) 'सूक्ष्म वासनामय' भोग है। (४) 'ज्ञान' शक्ति है (५) गुण 'सत्त्व' है (६) स्वप्न-अवस्था के अभिमानी होने से 'तैजस' नाम है।

(३) सुषुप्ति-अवस्था

जब आदमी गहरी नींद में जाकर सुख से सोता है और किसी प्रकार के दुःख का मन में विचार तक बाकी नहीं रहता और निद्रावस्था से उठकर कहता है कि मैं खूब आराम से सोया। इस अवस्था का नाम 'सुषुप्ति' है।

सुषुप्ति अवस्था में जीव का (१) स्थान 'हृदय' है (२) 'उपस्थ' विषय है (३) 'आनन्द' भोग है (४) 'द्रव्य' शक्ति है (५) 'तम' गुण है (६) सुषुप्ति के अभिमान से 'प्राज्ञ' नाम है।

यहाँ तक तीन अवस्थाओं का वर्णन हुआ। अब एक अन्य रीति से भी इन अवस्थाओं पर विचार करो—

जब जाग्रत् अवस्था रहती है तब भी आत्मा उस अवस्था को जानता है, जब स्वप्न अवस्था रहती है तब भी आत्मा उसे जानता है। इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत् वा स्वप्न अवस्थाएँ आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उनका जानने वाला और अतएव उनसे पूर्णतः न्यारा है।

स्वप्न अवस्था हो तब भी, और जागरण समय हो तब भी, आत्मा उसको जानता है। इसलिए आत्मा स्वप्न-अवस्था नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

सुषुप्ति अवस्था हो तब भी, और स्वप्न एवं जाग्रत् के समय हों तब भी, आत्मा उसको जानता है। इसलिए सुषुप्ति आत्मा नहीं, किन्तु आत्मा उसका जानने वाला और उससे पूर्णतः न्यारा है।

जब जाग्रत् अवस्था होती है तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ

नहीं होतीं। स्वप्न होता है तब जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाएँ नहीं होतीं, और जब सुषुप्ति होती है तब जाग्रत् और स्वप्न नहीं होते, किन्तु आत्मा बराबर प्रत्येक अवस्था में रहता है। इसलिए उन अवस्थाओं में से कोई भी आत्मा नहीं है। आत्मा उन सबका जानने वाला और उन सबसे पूर्णतः न्यारा है।

आत्मा सर्वप्रिय है

(मधु-विद्या का वर्णन*)

पृथिवी सम्पूर्ण जीवधारियों के लिए मधुमय है और पृथिवी के लिए सम्पूर्ण जीवधारी मधुमय हैं। अविनाशी और तेजोमय (=चिन्मात्र-प्रकाश रूप) पुरुष (=ईश्वर) जो पृथिवी में रहता है और अविनाशी व चिन्मात्र-तेज वाला जीव जो शरीर में अपने आत्मा के सम्बन्ध से वर्तमान है ये दोनों (सम्पूर्ण प्राणधारियों के लिए मधु हैं)। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की भाँति अविनाशी है, यह

* श्रीयुत स्वामी शङ्कराचार्य्य जी महाराज इस प्रकार वर्णन करते हैं कि इस मधु-ब्राह्मण (बृ० उ० २, ५) से पूर्व मैत्रेयी-ब्राह्मण (बृ० उ० २,४) की परिपाटी का यह उद्देश्य है कि जो चीज़ जाहरी कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध नहीं रखती उसकी व्याख्या करनी आवश्यक है, वह ब्रह्म-ज्ञान ही है और उसका ज्ञान संन्यासी के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, चूंकि आत्मा का ज्ञान ब्रह्माण्ड की प्रकृति (=स्वभाव) को समझने के लिए भी जरूरी है और प्रत्येक प्राणी को आत्मा दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्रिय है, अतएव आत्मा साक्षात् देखने के योग्य है, तदर्थ वह सुनने, विचारने और ध्यान करने के योग्य है। आत्मा के विविध उपायों से देखने की विधि का ऊपर वर्णन किया गया है। आत्मा की प्रकृति गुरु के मुखारविन्द से सुनी जाती है, तर्क से मनन किया जाता है और निदिध्यासन से उसकी वास्तविकता का पता लगता है। उसके आगे यह मधु-ब्राह्मण इसकी अधिक व्याख्या के उद्देश्य से लिखा गया है ताकि सन्देह दूर हो जायें।

सर्वोपरि है* ।

(बृहदारण्यक उपनिषद् २.५,१)

पानी सम्पूर्ण जीवधारियों के लिए मधु है, सब जीवधारी पानी के लिए मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो पानी में रहता है और तेजोमय जीव जो वीर्य्य (तुख्म) में अपनी रूह के सम्बन्ध से वर्तमान है—सम्पूर्ण प्राणधारियों के लिए शहद हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, २)

पावक (अग्नि) समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है एवं पावक के लिए समस्त प्राणधारी मधुवत् हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो अग्नि में रहता है और अविनाशी व तेजोमय जीव जो वाणी (कलाम) में अपनी रूह के सम्बन्ध में वर्तमान है—सम्पूर्ण प्राणधारियों के लिए मधु हैं, और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, ३)

वायु समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, वायु के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो वायु में रहता है और अविनाशी व तेजवाला जीव जो अपनी रूह के ताअल्लुक़ से जिन्दगी (प्राण) है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, ४)

---

* जिस प्रकार मक्षिका सब प्रकार के फूलों से मधु एकत्र करती हैं और वह मधु फिर मक्खियों का आहार होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण अस्तित्व एक पृथिवी के लिए आहार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं फिर पृथिवी अन्य प्राणधारियों का आहार बनती है। वह सब में परिवर्तन पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि इस जगत् की सब चीजें पारस्परिक एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली हैं।

नोट— अध्ययन करने वाले इस बात का सदा ध्यान रखें कि उपनिषदों के वचन तत्त्वों और भेदों से परिपूर्ण होते हैं। विचार करने से गम्भीरता समझ में आवेगी।

आदित्य समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, आदित्य के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजवाला पुरुष जो आदित्य में रहता है और अविनाशी व तेजवाला जीव जो वाणी (कलाम) में अपनी रूह के सम्बन्ध के कारण से वर्तमान है— समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २,५,५)

दिशा समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, दिशा के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजवाला पुरुष जो आदित्य में रहता है और अविनाशी व जलीलवाला जीव जो कान में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से मौजूद है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, ६)

चन्द्र समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, चन्द्र के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजवाला पुरुष जो चन्द्र में रहता है और अविनाशी व तेजवाला जीव जो मन में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से मौजूद है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उस के लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, ७)

विद्युत् (बिजली) समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, और विद्युत् के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो विद्युत् (बिजली) में रहता है और अविनाशी व तेजवाला जीव जो धर्म में अपने जीव-सम्बन्ध की वजह से मौजूद है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, और समस्त प्राणधारी उसके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २,५,८)

वज्र समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, वज्र के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो वज्र

में रहता है और अविनाशी व तेजवाला पुरुष जो शब्द और गाने के सुर में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से मौजूद है—समस्त प्राण-धारियों के लिए मधु हैं, और समस्त प्राणधारी उसके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है।

(बृ० उ० २, ५, ९)

आकाश समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, आकाश के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजवाला पुरुष जो आकाश में रहता है, अविनाशी व तेजवाला जीव जो मन के आकाश में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से मौजूद है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २,५,१०)

न्याय (इन्साफ़) समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, समस्त प्राणधारी न्याय के लिए मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो इन्साफ़ में रहता है, और अविनाशी व तेजवाला जीव जो न्याय में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से रहता है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं, और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २, ५, ११)

सत्य समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, समस्त प्राणधारी सत्य के लिए मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो सत्य में ही सदा प्रतिष्ठित रहता है और अविनाशी व तेजवाला जीव जो अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से सच्चाई में मौजूद रहता है—समस्त प्राणधारियों के मधु हैं और समस्त प्राणधारी उसके लिए मधु हैं। यह आत्मा है। यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २, ५, १२)

मनुष्य-मात्र समस्त जीवधारियों के लिए मधु हैं, मनुष्य-मात्र के लिए समस्त प्राणधारी मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो मनुष्यमात्र में रहता है और अविनाशी व तेज-वाला जीव जो मनुष्यमात्र में अपनी रूह के ताअल्लुक़ की वजह से

मौजूद रहता है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु हैं और समस्त प्राणधारी उनके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २, ५, १३)

जीव (आत्मा) समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है, समस्त प्राणधारी उसके लिए मधु हैं। दोनों—अविनाशी और तेजोमय पुरुष जो जीव में रहता है और अविनाशी व तेजवाला पुरुष जो जीव है—समस्त प्राणधारियों के लिए मधु है और समस्त प्राणधारी उसके लिए मधु हैं। यह आत्मा है, यह ब्रह्म की तरह अविनाशी है, यह सर्वोपरि है। (बृ० उ० २, ५, १४)

वह पुरुष समस्त जीवधारियों का स्वामी, समस्त प्राणधारियों का उत्पन्न-कर्ता और पूजनीय है। जैसे समस्त अरे पहिये की नाभि और परिधि में गुथे रहते हैं इसी प्रकार सारे भूत, सम्पूर्ण देवता, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, सारे भू आदि लोक और सम्पूर्ण प्राणधारी उस अद्वितीय पुरुष में गुथे हुए हैं। (बृ० उ० २, ५, १५)

सृष्टि का वर्णन

ऋषि मौन हुआ, मैत्रेयी व कात्यायनी दोनों उसकी विद्वत्ता-परिपूर्ण वक्तृता को सुनकर चुप हो गईं। ऋषि ने अपने मन्तव्य को ऐसी ललित और मधुर वाणी में वर्णन किया कि उसके समझने में किञ्चिन्मात्र भी कठिनता नहीं हुई। और भलीभाँति समझ गईं कि आत्मा शरीर या उसके अंशों में से कोई नहीं है। प्रत्युत वह स्वयम् पृथक् वस्तु है। सम्पूर्ण शरीर उसके आश्रय रहता है। याज्ञवल्क्य ऋषि जी की वक्तृता का यह साराँश है और केवल इतना ही बोध कराने की उनकी इच्छा थी।

मैत्रेयी थोड़ी देर तक मौन रही। पश्चात् ऋषि जी को सम्बोधन करके बोली—

महाराज! मैंने आपके सदुपदेश को भलीभाँति समझ लिया, आपकी सुवक्तृता की क्या प्रशंसा करूँ, आपको हृदय-गत

भाव से धन्यवाद देती हूँ। अब मैं आप से यह जिज्ञासा करना चाहती हूँ कि यह आत्मा जो सम्पूर्ण जड़ पदार्थों से पृथक् वस्तु है, इस शरीर आदि के बन्धन में कैसे आता है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा— मैत्रेयी ! यह सम्बन्ध अनादि काल से है। इसका आदि व अन्त नहीं है। जो चीज़ सर्वज्ञ से हो उसको अनादि व अविनाशी कहते हैं और यह सम्बन्ध कभी समाप्त नहीं होता।

मैत्रेयी— महाराज ! यदि यह सत्य हो तो भी सीमा-बद्ध करने के लिए उसका प्रारम्भ मानने की आवश्यकता होगी।

याज्ञवल्क्य— प्रिया ! यह बात कोई अवश्यम्भावी नहीं है और न कोई इसके मानने की विशेष आवश्यकता ही है। यह सृष्टि का प्रवाह हमेशा से बराबर इसी प्रकार जारी है, न इसका आदि है, न इसका अन्त है। जिस चीज़ की यह दशा हो उसको सीमा-बद्ध कैसे किया जा सकता है।

मैत्रेयी— स्वामिन् ! प्रकृति (नेचर) के काम-काज में बराबर आदि व अन्त देखती हूँ। प्रातःकाल है, सायंकाल है। रात्रि है, दिन है। युवावस्था है, वृद्धावस्था है। उत्पत्ति है, मृत्यु है इत्यादि।

याज्ञवल्क्य— सत्य है, यह उस शृङ्खला की आवश्यक कड़ियां हैं। जैसे भ्रमर-चक्र में उन्हीं चीज़ों को बराबर चक्कर लगाना पड़ता है जो उसमें होती हैं। वैसे ही प्रकृति के काम-काज में भी यही सम्बन्ध जारी रहता है। पानी सूर्य्य की उष्णता (हरारत) से भाफ बनकर आकाश-मण्डल में स्थित होता है। वहाँ गरमी-सरदी पाकर प्रबल वायु के झोंकों से हिमालय की चोटी पर बरसता है। फिर सरदी पाकर और आकर्षण शक्ति से जमकर हिम (बर्फ) बन जाता है। वही हिम विविध अवस्थाओं और घटनाओं के प्रभावों से परिवर्तित होते हुए फिर पहाड़ की चोटी से भूतल में नीचे गिरता है और सूर्य की गरमी से पिघलकर पतला व प्रवाहित होता हुआ नदियों की धारा में बहने लगता है और विविध स्थानों को जलाशय बनाते हुए समुद्र में जाकर प्रविष्ट

होता है और फिर वहाँ से सूर्य की गरमी पाकर वाष्प बनकर हिमालय पर्वत के शिखर पर बरसता है। यह सृष्टि-क्रम है।

इसी प्रकार बराबर होता रहता है। इसकी सीमा-बद्धता कोई क्या करे और कैसे कहे कि अमुक समय इसका प्रारम्भ हुआ था। तुम यह कह सकती हो कि बर्फ का प्रारम्भ हिमालय पर्वत की चोटी पर हुआ। परन्तु उसका प्रारम्भ पहिली अवस्थाओं व परिवर्तन-क्रियाओं में हो चुका था और अनेक बार ऐसा ही हुआ है।

सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी प्रकार होती है। जिस प्रकार पानी का आदि व अन्त मानते हो वैसे ही इसमें भी लोग उत्पत्ति और अन्त (प्रलय) मानते हैं। परन्तु वह सादि नहीं है और न कोई यह कह सकता है कि कब से सृष्टि की उत्पत्ति आरम्भ हुई है और कब समाप्त हो जायेगी। क्योंकि ऐसा कभी नहीं हुआ। मनुष्य की बुद्धि इस विषय में चक्कर खाती है और कोई उचित सिद्धान्त प्राप्त नहीं होता। जब तक गति है तब तक गति-कारिणी चीज़ स्थिर नहीं होती। जब वह ठहर जाती है तब गति भी बन्द हो जाती है और कुछ देर के पीछे फिर गति होनी आरम्भ हो जाती है। गति के समय में सृष्टि रहती है। गति का न होना ही प्रलय है। उस समय सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ ईश्वर या ईश्वर के ज्ञान में लय हो जाते हैं। सृष्टि में केवल तीन वस्तुएँ अनादि हैं। ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण माया अर्थात् प्रकृति।

ब्रह्म व जीव दोनों चेतनता आदि गुणों से बराबर व्याप्य और व्यापक के सम्बन्ध से जुड़े हुए एक दूसरे के साथी होने से अनादि काल से हैं और वैसे ही वह वृक्ष है जिसकी जड़ 'कारण' और शाखाएँ 'कार्य' के रूप में हैं। अर्थात् जिसका स्थूल-रूप प्रलय के समय छिन्न-भिन्न होकर रहता है। इन तीनों चीजों के प्रभाव, क्रियाएँ और गुण भी अनादि हैं। जीव और ब्रह्म इन दोनों में से जीव वृक्ष-रूपी संसार में पाप और पुण्य रूपी फलों को अच्छी तरह से भोगता है और दूसरा परमात्मा अन्दर बाहर सब

जगह प्रकाशमान होकर व्यापक है। उसको कर्म्मों के फल से मतलब है न वास्ता।

इन्हीं तीन अनादि वस्तुओं को सृष्टि के मुख्य हेतु समझ। सत्त्व, रज और तम इन तीन चीजों की समष्टि (मजमुआ) का नाम ही 'प्रकृति' है। इससे महत्-तत्त्व (असर अज़ीम)=बुद्धि (अकल) उत्पन्न होती है। बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्च तन्मात्र (लतीफ अनासिर) और दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन, पञ्च तन्मात्रों से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्च महाभूत (कसीफ़ अनासिर) उत्पन्न होते हैं। ये संख्या में चौबीस हैं, पच्चीसवाँ पुरुष (जीव) है।

जब पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है उस समय जड़ प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है और इस प्रकार पुरुष के सम्बन्ध से सृष्टि का प्रबन्ध होने लगता है। जिस क्रम से सृष्टि होती है उसकी व्याख्या अगले पृष्ठ (पृ० ६६) पर दी गई है।

सत्त्व में सूक्ष्मता, पवित्रता, आनन्द व प्रकाश आदि गुण हैं। रजोगुण क्रिया, शक्ति, चञ्चलता, ईर्ष्या, घृणा आदि का नाम है। तमोगुण में आलस्य, मलीनता आदि गुण हैं।

जब ये तीनों समान अवस्था में होते हैं तब इनका नाम 'प्रकृति' होता है। इस प्रकृति को 'प्रधान' भी कहते हैं। पुरुष के संयोग से प्रकृति में क्षोभ होता है। तब वह मानो चाहती है कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ और सृष्टि रचने की क्रिया करने लग जाती है। प्रकृति मूल-कारण व मुख्य हेतु है और किसी का कार्य्य नहीं है। इससे जो महत्-तत्त्व आदि सात तत्त्व* उत्पन्न होते हैं वह कार्य्य (इल्लत) व कारण (मालूल) दोनों हैं। परन्तु सोलह∅ तत्त्व केवल

* सात तत्त्व ये हैं—महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्र (=शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र और गन्ध तन्मात्र)।

∅ सोलह तत्त्व ये हैं— मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और पांच महाभूत।

प्रकृति
(१) सत्व
(२) रज
(३) तम की साम्य-अवस्था।
महत्-तत्त्व
अहङ्कार अर्थात् व्यक्तिगत ममत्व
मन
पञ्च कर्म-इन्द्रिय
पञ्च तन्मात्र
पञ्च ज्ञान-इन्द्रिय
वाक् पाणि पाद उपस्थ गुदा
शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध
श्रोत्र त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण
आकाश वायु तेज जल अग्नि
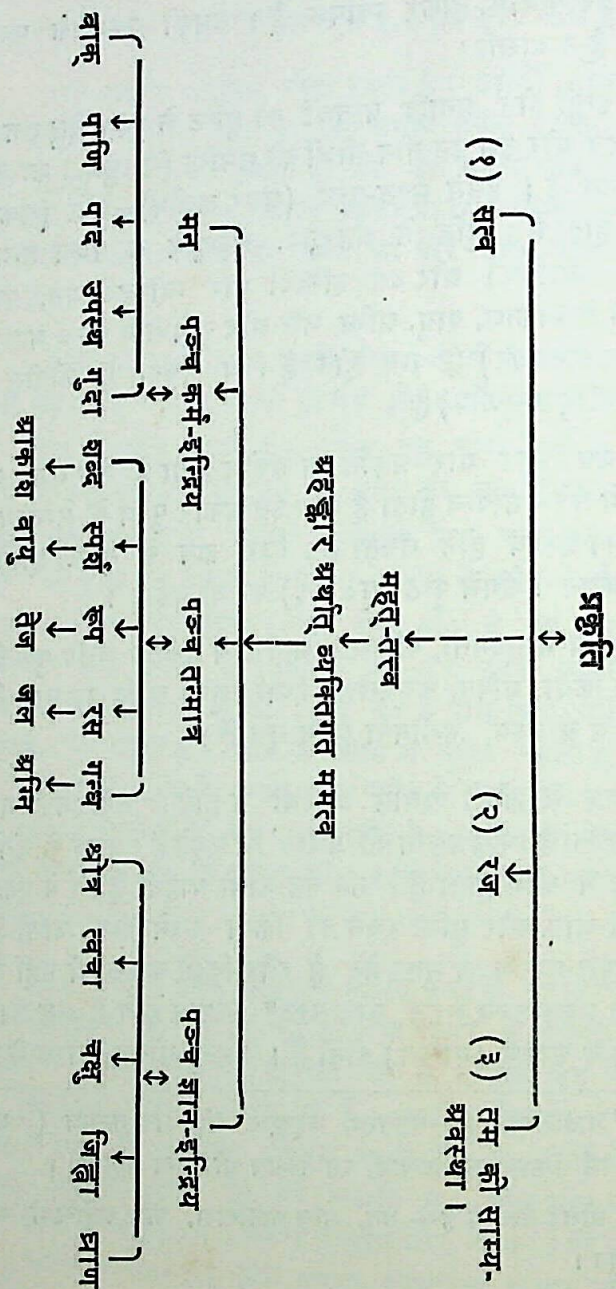
कार्य्य-विशेष हैं, कारण नहीं हैं। पुरुष न किसी का कारण है, न कार्य्य है। न किसी से उत्पन्न हुआ, न कोई उससे उत्पन्न होता है। यह कपिलाचार्य्य जी का मत है।

मैत्रेयी— इस मत से तो ईश्वर की आवश्यकता प्रकट नहीं होती। प्रत्युत पुरुष अर्थात् जीवात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध होते ही सृष्टि उत्पन्न होने लगती है।

याज्ञवल्क्य— नहीं मैत्रेयी! यह विचार मिथ्या है। परमेश्वर के विना कभी सृष्टि नहीं हो सकती। परमेश्वर आत्मा में में व्याप्त और आत्मा से पृथक् है। जिसको मूर्ख जीवात्मा नहीं जानता, कि वह परमात्मा मुझ में व्यापक है। जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीवात्मा में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से अलग रहकर जीव के भले-बुरे कर्मों का साक्षी होकर उनका फल—पुरस्कार वा दण्ड—जीवों को देकर अपने नियम के अन्दर रखने वाला अविनाशी तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है। जो तेरे अन्दर है उसको तू जान।

(बृ० उ० ३, ७, २२)

अन्न का रूप रखने वाली पृथिवी, जो कार्य है, उसको देखकर पानी के रूप वाले कारण को पहिचान। कार्य के रूप वाले पानी से अग्नि रूप वाले प्रारम्भक कारण को तू समझ और अग्नि रूप वाले कार्य से 'सत्'-रूपी कारण अर्थात् अनादि जड़ पदार्थ (प्रकृति) को जान। यही 'सत्'-रूपी पदार्थ समस्त जगत् की स्थिति का केन्द्र है। यह समस्त जगत् उत्पत्ति से पहले मानो 'असत्' ही था अर्थात् परमाणु-रूप होकर उस चैतन्य-रूप परमात्मा में लीन था। इसी की सत्ता से फिर जगत् का आविर्भाव हुआ।

(छां० उ० ६, ८, १-७)

मैत्रेयी— महाराज! आपने पहले केवल प्रधान अर्थात् प्रकृति को सृष्टि का कारण (इल्लत) माना था। परन्तु अब विदित हुआ कि उसके कारण अनेक हैं। कृपा करके उनकी संक्षिप्त व्याख्या से अनुगृहीत करें।

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी! मैंने जो प्रधान (=प्रकृति)

को कारण कहा था उसका यह अभिप्राय था कि वह विशेष अर्थात् उपादान-कारण है। किसी कार्य के तीन कारण होते हैं— एक निमित्त-कारण (इल्लत फ़ायली), दूसरा उपादान-कारण (इल्लत माद्दी), तीसरा साधारण-कारण (इल्लत आमा)।

निमित्त-कारण (इल्लत फ़ायली) उसे कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं न बने, दूसरे को कुछ बनावे। उपादान-कारण (इल्लत माद्दी) उसे कहते हैं कि जिसके विना कुछ न बने और दूसरी अवस्था में परिवर्तित होकर बने भी और बिगड़े भी। तीसरा साधारण-कारण (इल्लत आमा) उसको कहते हैं जो बनाने का उपाय और साधारण कारण हो।

निमित्त-कारण (इल्लत फ़ायली) दो प्रकार का है— एक जो अपनी क्रिया से सम्पूर्ण जगत् को बनाने, सुरक्षित रखने और विनष्ट करने और सबको अपने नियम के अधीन रखने में समर्थ हो। वह परमात्मा है। दूसरा वह जो परमात्मा की सृष्टि में से पदार्थ ले-लेकर कई प्रकार के और कई भाँति के कार्य्य (मालूल) बनाने की शक्ति रखता हो। यह जीव है। मूल-प्रकृति जिसको सारे जगत् का कारण कहते हैं वह जड़ (बेजान) होने के कारण से आप न कुछ बन सकती है, न बिगड़ सकती है, प्रत्युत दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। किसी वस्तु के बनाते समय अनुभव, शक्ति आदि कई प्रकार के उपायों की आवश्यकता हुआ करती है। इसको साधारण-कारण अर्थात् इल्लत आमा कहा करते हैं। जैसे घड़े के लिए कुम्हार निमित्त-कारण है। मिट्टी उपादान-कारण (इल्लत माद्दी) है। दण्ड, चक्र आदि साधारण कारण हैं। तीनों कारणों के विना कोई भी वस्तु दुनियाँ में न बन सकती है और न बिगड़ सकती है।

मैत्रेयी— स्वामिन्! क्या इस अनादि सृष्टि में जीव का कर्म्म भी कुछ प्रभावोत्पादक होता है?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी! क्यों नहीं? कर्म्म का सिल-सिला भी अनादि है। परन्तु जड़ पदार्थों की तालिका में इसे लाना मूर्खता है। सृष्टि-कर्म्म में प्राणियों के कर्म्म ईश्वर के न्याय की

अधीनता में ही फलीभूत होते हैं। कर्म्म तीन प्रकार के होते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण। किए हुए कर्म्म जिनके फल आधुनिक जन्म व आधुनिक अवस्था में भोगे जाते हैं 'प्रारब्ध' हैं। सञ्चित वे हैं जो अभी तत्काल फल नहीं देते किन्तु चलकर अथवा अगले जन्म में व किसी दूसरे समय में फल देंगे। आधुनिक समय के कर्म्म को क्रियमाण कहते हैं जो अपनी अवस्था के अनुसार सञ्चित व प्रारब्ध बनेंगे। नियम के अनुसार जब कर्म्मों में फल देने की सामर्थ्य नहीं रहती तब सृष्टि बन्द होकर प्रलय हो जाती है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड परमाणुओं के आकार में परिवर्तित होकर परमात्मा के ज्ञान में व्यस्त रहता है। फिर जब दबे हुए कर्म्मों में दृढ़ता आती है और वह फल देने के योग्य हो जाते हैं तब फिर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। एतावता जीवों के कर्म्म सृष्टि के काम में प्रभावदायक होते हैं। परन्तु इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि कर्म्मों में फल देने की शक्ति अपने आप नहीं है। वे परमात्मा के अधीन हैं। जड़ होने से उनमें स्वयं फल देने की सामर्थ्य नहीं है*।

मैत्रेयी— स्वामी जी! सृष्टि में कर्म्मानुसार जो योनियाँ जीव ग्रहण करती हैं वे कितनी प्रकार की हैं?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी! सृष्टि में चार प्रकार की योनियाँ देखी जाती हैं। यथा— अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, स्थावर। अण्डज उसे कहते हैं जो अण्डे से उत्पन्न हो। जैसे— पक्षी, घड़ियाल आदि। पिण्डज उसे कहते हैं जो जेर (Chorion) से उत्पन्न हों जैसे— चौपाए (हैवान), मनुष्य आदि। ऊष्मज जो प्रस्वेद आदि दुर्गन्धि से उत्पन्न होते हैं जैसे— खटमल, जूं आदि। स्थावर उन्हें कहते हैं जो अचर होते हैं, यथा— वृक्षादि। मनुष्य-जगत्, पशु-जगत्, उद्भिद्-जगत् और भौतिक जगत् में जितने जीवधारी हैं वे सब इन चार योनियों में समा जाते हैं। फिर इनकी संख्या को महात्माओं ने चौरासी लाख तक पहुँचाया है। परन्तु वह भी ऐसी विस्तृत नहीं है जो सृष्टि की योनियों को सीमा-बद्ध

---

* बौद्ध आदि कुछ सम्प्रदाय कर्म्म में फल देने की शक्ति मानते हैं।

कर दे। ईश्वर की सृष्टि असंख्य व अगण्य है। उसका ज्ञान केवल परमात्मा ही को है।

मैत्रेयी— महाराज ! प्रारम्भ में सृष्टि कैसे होती है ? पहले बीज होता है अथवा वृक्ष होता है ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! पहले बीज होता है।

मैत्रेयी— महाराज ! वृक्ष के विना बीज कहाँ से आता है ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! विश्व में कोई पदार्थ विनष्ट नहीं होता। बीज, हेतु, निदान, निमित्त, कारण आदि शब्द पर्यायवाची हैं और बीज का ही दूसरा नाम कारण है और कारण सदा ही कार्य से पहले होता है। आकाश में सारी सृष्टि की सामग्री वर्तमान रहती है। जब सृष्टि का प्रारम्भ होता है तब प्रत्येक वस्तु क्रमशः और समयानुसार सामान पाते हुए आविर्भूत होने लगती है।

मैत्रेयी— प्रिय स्वामी जी ! मनुष्य-सृष्टि के विषय में आपका क्या कथन है ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय पत्नी ! जैसे और चीजों की उत्पत्ति हुई है वैसे ही मनुष्य की भी हुई है।

मैत्रेयी— स्वामिन् ! प्रारम्भ में मनुष्य बाल्य अवस्था में उत्पन्न हुआ था या तरुण अवस्था में ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय सहधर्मिणी ! तरुण अवस्था में उत्पन्न हुआ था क्योंकि बाल्य अवस्था में उत्पन्न होने पर उसका पालन-पोषण कौन करता ? जो मनुष्य अपने पहले जन्मों के अच्छे संस्कारों और उत्तम योग्यता से संयुक्त होते हैं वे आदि-सृष्टि में उत्पन्न होते हैं। वह दुनियाँ में आकर शिक्षा व विद्या का बीज छोड़कर जाते हैं और फिर आगामी नसलें उनकी शिक्षा पर सोच व विचार करती हुई परीक्षण और निरीक्षण के द्वारा क्रमागत उन्नति व अवनति करती रहती हैं।

मैत्रेयी— महाराज ! अब ऐसा क्यों नहीं होता ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! अब इसकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा इस प्रकार के प्रवन्ध केवल प्रारम्भ में करता है। इस सृष्टि को दैवी सृष्टि कहते हैं। फिर उससे मैथुनी सृष्टि होने लगती है।

मैत्रेयी— प्रिय स्वामी जी ! इस प्रकार की दैवी सृष्टि यदि स्वीकार कर ली जाय तो पशुओं में तो अब भी दैवी सृष्टि दृष्टिगत होती है। उसकी शृङ्खला बन्द नहीं हुई। परन्तु मनुष्यों में ऐसा नहीं दिखाई देता। इसका क्या कारण है ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! इसका कारण यह है कि जिन जीवों का दुनियाँ में अथवा दुनियाँ के किसी विभाग में अभाव हो जाता है तव परमात्मा अपनी प्रबल शक्ति से इसी प्रकार का प्रबन्ध करते हैं। मनुष्यों के विषय में ऐसा करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मैत्रेयी— महाराज ! क्या प्रारम्भ में इस दैवी उत्पत्ति के बहुत से मनुष्य उत्पन्न होते हैं अथवा केवल एक जोड़ा उत्पन्न होता है ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय पत्नी ! इसका अनुमान उन जीवों की उत्पत्ति से कर सकती हो जिनका स्वयं तुमने अभी वर्णन किया था। क्योंकि मैं देखता हूँ कि इस प्रकार के अन्य जाति के जीव अधिक संख्या में एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव मनुष्य भी वहुत से उत्पन्न होते हैं और यही कारण है कि मनुष्यों की नसलें स्फुटिक और विविध रंग व रूप की हैं।

मैत्रेयी— स्वामी जी ! यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि मनुष्य को प्रारम्भ में ऋषियों के द्वारा पहले शिक्षा प्राप्त नहीं हुई और न प्रारम्भिक सृष्टि में ऐसे बड़े चतुर मनुष्य उत्पन्न हुए थे। किन्तु मनुष्य ने स्वयं धीरे-धीरे समझ-बूझ में उन्नति करते हुए अपनी अवस्था दुरुस्त कर ली है। तो इसमें क्या दूषण होगा ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! इसमें यह दूषण होगा कि यह बात मनुष्यों में देखी नहीं जाती। क्योंकि वह सदैव से शिक्षा का

मुहताज रहा है और अब भी है। परमात्मा ने दया करके मनुष्यों की रक्षा और उन्नति के लिए ऋषियों के द्वारा वेदों को जगत् में प्रगट किया जो समस्त सद्-विद्याओं के भण्डार हैं और स्वत: सिद्ध व अत्यन्त हितकर हैं।

मैत्रेयी— प्रिय स्वामी जी! इस सृष्टि का कुछ अन्त भी है अथवा नहीं?

याज्ञवल्क्य— मैत्रेयी! ऐसा प्रश्न मत कर! यह तेरी वार्ता बच्चों की सी है जिन्हें कुछ बोध नहीं होता। तेरे मुख से ऐसे वचन शोभा नहीं देते। भला इस सृष्टि के अन्त का अनुमान किस प्रकार लगाया जा सकता है? इस विचार के सम्मुख लाते ही मानुषी बुद्धि दंग रह जाती है। ये जो चमकीले तारे आकाश-मण्डल में दिखाई देते हैं वे भी इस पृथिवी की तरह बसे हुए लोक हैं। कोई इनमें से बहुत बड़ा और कोई अपेक्षा-कृत छोटा है और इनमें विविध प्रकार की सृष्टि है। वे लोक-लोकान्तर पृथिवी-मण्डल से बहुत दूर हैं और इसी कारण इस कदर छोटे दिखाई देते हैं। हे मैत्रेयी! ये सब तारा-गण सूर्य्य-मण्डल के अधीन हैं। सूर्य्य सब की जान और सब का केन्द्र है। जिस प्रकार ये सब दिखाई देने वाले तारा-गण इस बड़े सूर्य्य के अधीन हैं वैसे ही यह सूर्य इस प्रकार के असंख्य सूर्य्यों में से किसी एक बड़े सूर्य्य के अधीन है। फिर ऐसे-ऐसे बड़े सूर्य्य भी असंख्य हैं। इस ब्रह्माण्ड का क्या पता लग सकता है?

मैत्रेयी! कतिपय तारे इतनी दूरी पर हैं कि उनका प्रकाश यहाँ पहुँचते-पहुँचते उनका प्रलय हो जाता है। प्रकाश की गति बहुत ही तेज है। बुद्धि उसका हिसाब कब लगा सकती है। अस्तु, इस प्रश्न को तू त्याग दे। ईश्वर की विचित्रता और उसकी सृष्टि के विषय में दम मारने का स्थान भी नहीं है। उसका ज्ञान केवल ईश्वर को है।

मैत्रेयी— स्वामी जी महाराज! मेरी अज्ञानता को क्षमा कीजिए। ऐसा अनुचित प्रश्न अब मैं नहीं करूँगी। परन्तु यदि आप आज्ञा दें तो केवल इस एक प्रश्न के पश्चात् और विषय की जिज्ञासा करूँ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय पत्नी ! निःसन्देह जो भी आशङ्का तेरे जी में हो, तू पूछ सकती है।

मैत्रेयी— सृष्टि में मनुष्य की श्रेष्ठता मानने योग्य है और उसको बहुत श्रेष्ठ माना भी गया है। परन्तु हे स्वामिन्! मैं जानना चाहती हूँ कि इसका क्या कारण है ? उसकी ऐसी श्रेष्ठता स्थापना की गई है— "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"। इसके कारण का वर्णन कीजिए ?

याज्ञवल्क्य— प्रिय पत्नी ! मनुष्य की श्रेष्ठता वास्तव में मानने योग्य है। यह आकार संसार के समस्त दुःखों से परित्राण पाने का द्वार है। यही ईश्वर की शक्ति और अनुराग के कमाने का द्वार है। मनुष्य-योनि में आध्यात्मिक उन्नति का पूरा अवसर मिलता है। इसी कारण से यह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है।

हे मैत्रेयी ! यह मनुष्य-जन्म बड़ी मुश्किलों से हाथ आता है। यदि इससे काम न लिया गया तो फिर मनुष्य को असंख्य योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए इसको पाकर अपना बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। कभी भूलकर भी इसको वृथा और बरबाद न होने देना चाहिए। यह मनुष्य-देह समस्त ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा उदाहरण है और समस्त सृष्टि का सारांश है। जिस कदर सृष्टि में जीवधारी दिखाई देते हैं उन सबमें इसका अंश वर्तमान है। प्रिय मैत्रेयी ! सूक्ष्म-दृष्टि से देख, भौतिक पदार्थों में केवल सुषुप्ति है, सुषुप्ति में उसका विनाश होता है। उद्भिद् जगत् में सुषुप्ति व स्वप्न दोनों ही हैं और उनकी इन अवस्थाओं में इसका परिचय मिलता है। पशु-जगत् में सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् ये तीनों अवस्थाएँ हैं। तीनों में उसका व्यवहार रहता है। परन्तु मनुष्यों में इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त चौथी तुरीय अवस्था भी वर्तमान है जिसके कारण यह सर्व-मान्य और सर्व-श्रेष्ठ है।

यह मनुष्य-देही समस्त ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त उदाहरण है। समस्त सृष्टि का सार है। जिस कदर सृष्टि संसार में है और

भान्ति-भान्ति के पशु-पक्षी दिखाई देते हैं उन सबके शरीरों में इसका कोई न कोई अङ्ग वर्तमान है। पशुओं में अवयवों (अजुओं) का चित्र मनुष्य से लिया गया है। समस्त कर्म-इन्द्रियाँ, ज्ञान-इन्द्रियाँ मानव-बुद्धि में वह मनुष्य की प्रतिलिपि (नकल) हैं। क्रमानुसार उनमें धीरे-धीरे न्यूनता होती गई है, सब इन्द्रियाँ मनुष्य-देही में आकर पूर्णत्व को प्राप्त होती हैं, इसलिए यह मनुष्य-देही सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्तम है।

यह मनुष्य-देही समस्त ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त उदाहरण-स्वरूप है। समस्त सृष्टि का सार है। जिस कदर सृष्टि संसार में वनस्पति के आकार में दिखाई देती है, सबमें इसका रूप दिखाई देता है। वनस्पति में अवयवों (अजुओं) का चित्र मनुष्य से लिया गया है। मनुष्य-शरीर ऊँचे वृक्ष के समान है। उसके बाल पत्ते हैं, उसका चमड़ा छाल है। उसके चमड़े से रुधिर उसी प्रकार प्रवाहित होता है जैसे वृक्ष की छाल से पानी निकलता है। जिस प्रकार कटे हुए वृक्ष से पानी बहता है, ठीक उसी प्रकार घायल अथवा कटे हुए मनुष्य के शरीर से रुधिर बहता है। हड्डियाँ उस मनुष्य-रूपी वृक्ष की लकड़ियां हैं। मनुष्य के शरीर में चरबी और माँस होता है तो वृक्ष के तने में भी गूदा होता है। जैसे शिर काटने से मनुष्य मर जाता है वैसे ही वृक्ष भी जड़ काटने से शुष्क हो जाता है। मनुष्य और वृक्ष दोनों के बीज दोनों के अस्तित्वों (वजूद) के निचोड़ और सार हैं।

प्रिय मैत्रेयी! तू सत्य मान! मनुष्य भी एक उल्टे आकार वाला वृक्ष है। वृक्ष स्थावर है, मनुष्य जङ्गम है। बस इसी विशेषता के कारण यह मनुष्य-देही सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्तम है।

यह मनुष्य-देही समस्त ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त उदाहरण है। समस्त सृष्टि का सार है। सृष्टि में जितने तारा-गण आदि दिखाई देते हैं, सबका आभास मनुष्य में दिखाई देता है। इसमें सम्पूर्ण चन्द्र, सूर्य्य, अग्नि, वायु, देवता आदि वर्तमान हैं। असंख्य क्षय होते हैं। यह छोटा संसार सचमुच महा-ब्रह्माण्ड की नकल है। इसलिए यह मनुष्य-देही सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्तम है।

मोक्ष

मैत्रेयी— प्रिय स्वामी जी महाराज ! आज मैंने प्रथमवार मनुष्य के आकार की श्रेष्ठता सुनी है। वस्तुतः मनुष्य का जन्म मूल्यवान् रत्न है और उनके लिए यह शोक का स्थल है कि जो इस दुर्लभ शरीर की कदर नहीं करते और यों ही व्यर्थ खो बैठते हैं। क्योंकि फिर यह अमूल्य पदार्थ कठिनता से हस्त-गत होता है। अब कृपा करके मेरे प्रश्न के शेष भाग का उत्तर देवें।

याज्ञवल्क्य— प्रिय मैत्रेयी ! तूने मोक्ष के विषय में प्रश्न किया था। मैंने तुझको आत्मा का रूप दिखला दिया। जब मनुष्य को आत्मा का ज्ञान होता है तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है, आत्म-ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता।

मैत्रेयी — हे स्वामी जी ! इस ज्ञान के लाभ प्राप्त करने के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है ?

याज्ञवल्क्य— ज्ञान के उपार्जन करने के लिए बहुत से साधन हैं, परन्तु विशेष-विशेष साधन ये हैं—

(१) **विवेक**— जो मोक्ष का इच्छुक हो वह सबसे पहले सत्य-कर्म, सत्य-भाषण, सत्य-प्रिय, सत्य-शील, सत्यवान्, सत्याचरण इत्यादि का अभ्यास करे, और अधर्म का त्याग करे क्योंकि धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। दुःख वास्तव में पाप-कर्मों का फल होता है। वह नेक मनुष्यों का सत्सङ्ग ग्रहण करे क्योंकि धार्मिक पुरुषों के सत्सङ्ग से वह सहज ही में धार्मिक बन जावेगा और उनके साथ,विचार करने का उसे अभ्यास पड़ जायगा। विचार करने से यह तत्त्ववेत्ता अर्थात् तत्त्वों को जानने वाला होगा और आत्मा के स्वरूप को प्रकृति एवं उसके विकारों से पृथक् निश्चय करने लगेगा जैसा कि मैंने पहले तुझसे वर्णन किया है अर्थात् जीव सब कोशों, सारी इन्द्रियों और समस्त अवस्थाओं से अलग है। जब मनुष्य इस प्रकार विचार करने लगेगा तो वह प्रतिदिन सुख को अनुभव करता जायेगा और उसकी बुद्धि उन्नति करती हुई भला-बुरा, उचित-अनुचित, सत्य-असत्य में निर्णय करने लगेगी।

(२) **वैराग्य**— अर्थात् सत्य-असत्य का निर्णय करके ईश्वर की भक्ति में मन लगाना और किसी प्रकार के सांसारिक पदार्थों में लिप्त नहीं होना । सच्चा वैरागी वह है जो किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखता ।

(३) **षट्क-सम्पत्ति**— इसमें छः प्रकार के निम्न नियम अन्तर्भूत हैं—

(i) **शम**— अर्थात् अपने आत्मा व अन्तःकरण को अनुचित कर्म्मों से हटाकर धर्म्ममूलक कर्म्मों पर सदा आरूढ रहना ।

(ii) **दम**— अर्थात् काम आदि के वशीभूत इन्द्रियों और शरीर के बुरे विषयों से चित्त की वृत्ति को हटाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना ।

(iii) **अप्रीति**— अर्थात् बुरे कर्म्म करने वालों से सदा बचे रहना ।

(iv) **तितिक्षा**— अर्थात् निन्दा-प्रशंसा, हानि-लाभ, शोक-हर्ष, सुख-दुःख का ख्याल छोड़कर केवल मोक्ष-लाभ करने की चिन्ता में लगे रहना ।

(v) **श्रद्धा**— अर्थात् वेदादि सत्-शास्त्रों के एवं ज्ञानी और गुरु के वचन में विश्वास करना ।

(vi) **समाधान**— अर्थात् चित्त की एकाग्रता का सम्पादन ।

(४) **मुमुक्षुत्व**—अर्थात् जिस प्रकार भूखे को सिवाय खाने के और किसी चीज़ की व्यग्रता नहीं होती उसी तरह मुमुक्षु को केवल मोक्ष की फिकर होनी चाहिए ।

इन चार साधनों के अतिरिक्त चार अनुबन्ध हैं अर्थात् वे क्रियाएँ जो साधनों के पश्चात् होनी आवश्यक हैं और वे चारों अनुबन्ध निम्न हैं—

(१) **अधिकारी** (२) **सम्बन्ध**
(३) **विषय** (४) **प्रयोजन**

(१) **अधिकारी** — वह है जो ऊपर वर्णन किए हुए चारों साधनों का भली भान्ति पालन करता हो, वही मोक्ष का अधिकारी है।

(२) **सम्बन्ध**— अर्थात् ब्रह्म का सत् शास्त्रों से अनुभव और सत् शास्त्रों के अभिप्राय और गुरु के उपदेश के असल तात्पर्य्य को अच्छी तरह समझ लेना और उस पर ध्यान रखना।

(३) **विषय**— अर्थात् सत् शास्त्रों का असल उद्देश्य ब्रह्म को प्राप्ति है। यही विषय है और जो इस विषय का इच्छुक है वह विषयी कहाता है।

(४) **प्रयोजन** — अर्थात् इन सब बातों का असल उद्देश्य क्या है ? सारे उद्योग का मुख्य अभिप्राय यह है कि तीन प्रकार के दुःख*—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—दूर हो जावें और परमानन्द प्राप्त हो। इसी परमानन्द का नाम मोक्ष है।

इसके पश्चात् श्रवणादि-चतुष्टय का अनुष्ठान करना आवश्यक है। वे श्रवण आदि चार निम्न हैं—

(१) **श्रवण**— जब कोई विद्वान् गुरु उपदेश दे उस समय शान्ति से ध्यान देकर सुने क्योंकि ब्रह्म का विषय समस्त विद्याओं से अधिक कठिन व अधिक सूक्ष्म है।

(२) **मनन**— अर्थात् सुने हुए उपदेश का एकान्त स्थान में बैठकर विचार करे और भ्रम व संशय का निवारण करे।

(३) **निदिध्यासन**— अर्थात् जब सुनी हुई बातों में विचार के पश्चात् भ्रम व संशय न रहे तो समाधि-वृत्ति बनाकर अथवा समाधि में उनकी परीक्षा करके देखे कि सुना हुआ और विचारा

---

* इन तीनों प्रकार के दुःखों में सम्पूर्ण दुःखों की गणना की गई है। वे दुःख जो शरीर और मन से सम्बन्ध रखते हैं वे आध्यात्मिक कहाते हैं। अन्य जीवों और पदार्थों से जो दुःख मिले वह आधिभौतिक है। चन्द्र, सूर्य्य, सरदी, गरमी, वर्षा आदि से जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे आधिदैविक कहे जाते हैं।

हुआ उपदेश ठीक है वा नहीं । इसको 'ध्यानयोग से देखना' कहा जाता है* ।

(४) **साक्षात्कार**— इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को उसकी असलियत के अनुसार जान लेना ।

इनकी सिद्धि के लिए क्रोध, हृदय-मलिनता, आलस्यादि के मूलभूत तमोगुण को छोड़कर ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अभिमान, नीच रुचियों की दासता आदि के मूलभूत रजोगुण को भी छोड़कर सत्व-गुण को शान्ति, आनन्द तथा प्रकाश समझकर सदा सत्यप्रिय, शान्त-स्वभाव और नेक रहना और अच्छे गुणों को धारण करना चाहिए । इसके लिए उत्तम पुरुष में निम्न चार बातों का रहना आवश्यक है—

(१) मैत्री=सुखी मनुष्यों से प्रेम रखना ।
(२) करुणा अर्थात् दुःखी मनुष्यों पर दया करना ।
(३) धर्म्मिष्ठ मनुष्यों को देखकर प्रसन्न होना ।
(४) अपेक्षा-कृत कुटिल-आचरण वाले मनुष्यों से स्नेह न रखना, न वैर रखना ।

मुमुक्षु के लिए हर रोज दो-चार घण्टा तक इस प्रकार के ज्ञान-ध्यान में स्वयं को व्यस्त रखना आवश्यक है । जब तक योगाभ्यास न करेगा तब तक चित्त की वृत्ति एकाग्र न होगी और इसके बिना यथार्थ ज्ञान भी नहीं होगा । यथार्थ ज्ञान के बिना सच्चा सुख भी न मिलेगा—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य, न चाऽयुक्तस्य भावना ।
नचाऽभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

(गीता २, ६६)

अर्थ— अयोगी की बुद्धि ठीक नहीं रहती और अयोगी की भावना (विवेक) भी नहीं होती और भावना से रहित व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, फिर अशान्त को सुख कहां ?

---

* ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः । (मनु० ६, ७३),

ध्यान करने से इन्द्रियाँ मन में लीन होती हैं। मन आत्मा में लीन होता है। आत्मा परमात्मा के ध्यान में लीन होकर परमानन्द की अवस्था को प्राप्त होकर यथार्थ सुख भोगता है।

जब तक अज्ञान रहता है तब तक दुःख सहता है। क्योंकि ज्ञान मोक्ष का हेतु है, मोक्ष ही सुख है। इसलिए तू अपने आत्मा को पहचान और उसको आनन्द-स्वरूप परमात्मा में स्थित कर। हे प्रिय सहधर्मिणी! तब तू मोक्षपद को प्राप्त हो सकेगी।

मैत्रेयी— प्रिय स्वामी जी महाराज! अब कृपा करके बतलावें कि मुक्ति-अवस्था में जीव कहाँ रहता है?

याज्ञवल्क्य— मैत्रेयी! ब्रह्म में रहता है।

मैत्रेयी— ब्रह्म तो सर्वव्यापक है और मुक्ति-प्राप्त जीव केवल एक ही स्थान में रहता है। इसका मुख्य अभिप्राय क्या है?

याज्ञवल्क्य— हर जगह वर्तमान और व्यापक रहने वाले ब्रह्म में मुक्ति को प्राप्त जीव किसी रोक-टोक के विना स्थित रहता है। ब्रह्म-ज्ञान में आनन्दित परम-शान्ति से भरपूर होकर स्वतन्त्र होकर विचरता है।

मैत्रेयी— महाराज! मुक्ति-प्राप्त जीव का शरीर स्थूल होता है व सूक्ष्म?

याज्ञवल्क्य— मुक्ति-प्राप्त जीव सूक्ष्म शरीरधारी होते हैं अर्थात् उनके शरीर भौतिक एवं प्राकृतिक नहीं होते।

मैत्रेयी— इस प्रकार तो भौतिक-शरीरधारी न होने से वे मुक्ति के सुख और आनन्द को कैसे अनुभव करते हैं?

याज्ञवल्क्य— उनके सच्चे विचार, आध्यात्मिक गुण मानसिक शक्तियाँ आदि सब मौजूद रहते हैं। केवल भौतिक पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्पूर्ण मलिनता व नीचता से शुद्ध और पवित्र होकर जरा-मरण, क्षुधा-तृषा के दुःखों से रहित दृढ़ इच्छा वाले परमात्मा से संयुक्त रहते हैं। इसलिए उसी की तलाश और उसी के जानने की इच्छा करनी चाहिए। वह शुद्ध जीव

परमात्मा के योग से सब लोकों और सब इच्छाओं का लाभ करता है। परमात्मा को जानकर मुक्ति के साधनों को ग्रहण करता है और अपने आपको सब प्रकार के पापों और विकारों से शुद्ध व पवित्र करता है। एवं जीव मुक्ति-लाभ करके ईश्वरीय पवित्र-दृष्टि और शुद्ध मन से रुचियों को देखता और लाभ करता हुआ आनन्दित रहता है। इस मुक्ति के इच्छुक ज्ञानी लोग जो परमात्मा में लीन होकर परमानन्द के सुख को अनुभव करते हैं, उसके सच्चे उपासक होते हैं। मुक्ति-प्राप्त जीव यह स्थूल शरीर त्यागकर आकाश के भीतर परमेश्वर में निवास करते हैं।

हे प्रिय मैत्रेयी ! तू भी अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके उस परमात्मा को खोजकर जरा-मरण, क्षुधा-तृषा के दुःखों से रहित होकर परमानन्द को प्राप्त हो।

वह ब्रह्म अनादि और अनन्त है। दिव्य है। भीतर है, बाहर है। अजर है, अमर है। यह अमृत है। ब्रह्म आगे है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दाहिने है, ब्रह्म बाँएं है। ब्रह्म नीचे है, ब्रह्म ऊपर है। सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्म फैला हुआ है। वह आदि-कारण है। अपने अस्तित्व का स्वतः-प्रमाण है। वह कानों का कान है, आँखों की आँख है। प्राणों का प्राण है। मन का मन और वाक् की वाक् है। सर्व-शक्तियाँ उसी से बल पाती हैं। उसी के ज्ञान से ऋद्धि और सिद्धि मिलती है।

जो पृथिवी में रहकर पृथिवी से पृथक् रहता है जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है। जो पृथिवी के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है सो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है। (बृ० उ० ३,७,३)

जो जल में रहकर जल से अलग है, जिसको जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है। जो जलों के भीतर रहकर उन पर नियन्त्रण करता है वही परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है, अमृत है।

(बृ० उ० ३, ७, ४)

जो अग्नि में रहकर अग्नि से अलग है। जिसको अग्नि नहीं

जानती, जिसका अग्नि शरीर है, जो अग्नि के भीतर होके उसे नियम में रखता है सो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है।

(बृ० उ० ३,७,५)

जो अन्तरिक्ष में रहकर अन्तरिक्ष से अन्य है जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता, जिसका शरीर अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष में रहकर उसे नियम में रखता है, सो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है।

(बृ० उ० ३,७,६)

जो वायु में रहकर वायु से अन्य है जिसको वायु नहीं जानता, जिसका वायु शरीर है और जो वायु के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है सो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है।

(बृ० उ० ३,७,७)

जो विज्ञान* (=आत्मा=जीवात्मा) में रहकर विज्ञान से अन्य है जिसको विज्ञान नहीं जानता, जिसका विज्ञान शरीर है और जो विज्ञान के भीतर रहकर उसे नियम में रखता है वह परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है। (बृ० उ० ३,७,२२)

वह सर्वव्यापी सबका ईश, अदृश्य है, द्रष्टा है, अश्रुत है, श्रोता है। अमत है, मन्ता है। अविज्ञात है, विज्ञाता है। उससे

---

* बृहदारण्यक उपनिषद् के पाठ दो प्रकार के हैं। एक है माध्यन्दिन शतपथानुसारी, दूसरा काण्व शतपथ के अनुसार है। काण्व पाठ पर ही श्री शङ्कराचार्य की व्याख्या होने से वही प्रायः प्रचलन में है। इसी के अनुसार यहां 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु माध्यन्दिन-पाठ (१४,६,७,३०) में इसके स्थान पर 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि यहां 'विज्ञान' शब्द का अर्थ आत्मा=जीवात्मा है। इससे जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यांपक भाव से तत्त्वतः भिन्न-भिन्न हैं। —सम्पादकः

अन्य कोई द्रष्टा नहीं, उसमें अन्य कोई श्रोता नहीं, उससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं, सो वही आत्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत है।

(बृ० उ० ३,७,२३)

जब मनुष्य के हृदय से सब कामनाएँ छूट जाती हैं तो वह मनुष्य यहाँ ही अमृत-रूप ब्रह्म को पा जाता है। हे प्रिये! यही मोक्ष-पदवी है। अब तो सन्तोष कर। इतना उपदेश यथेष्ट है। यह कहकर वैराग्यशील महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने जंगल का रास्ता लिया।

चतुर्थ विवेक

उपासना-विज्ञान

परमात्मा के सान्निध्य-लाभ के लिए वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में जो जो उपाय बताए गए हैं उनका नाम उपासना या साधना है। यथा—

आत्मेत्येवोपासीत। (बृ०उ० १,४,७)

तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्माऽस्मीति।

(बृ० उ० १, ४, १०)

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वे० उ० ३, ८; ६,१५)

अर्थात् 'परमात्मा की उपासना करनी चाहिए'। 'उसको प्रसन्न करना चाहिए। ईश्वरोपासना से जीव ब्रह्म के अनुकूल हो जाता है'। 'संसार में निष्कृति-लाभ करने के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है'।

परमात्मा सच्चिदानन्द के तीनों भावों के सम्यक् परिज्ञान और उपलब्धि के लिए ही ईश्वर-वाक्य रूपी वेद में कर्म्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड का वर्णन किया गया है। परमात्मा सद्भाव, चिद्भाव और आनन्द-भाव से पूर्ण है। कर्म के साथ जगत् का सम्बन्ध रहने से निष्काम कर्म-योग के द्वारा, अपनी सत्ता का विस्तार करते-करते, कर्मयोगी साधक परमात्मा की विराट् सत्ता में अपनी सत्ता का विलय करके उसके सद्भाव को उपलब्ध कर सकते हैं। ज्ञानकाण्ड के साथ परमात्मा की चित्सत्ता का सम्बन्ध रहने से ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट करके परमात्मा की चित्सत्ता को उपलब्ध कर सकते हैं। प्रकृत विषय

उपासना का है। वेद के उपासना-काण्ड के साथ परमात्मा के आनन्द-भाव का सम्बन्ध है। 'सत्' और 'चित्' के साथ ही साथ परमात्मा का रूप 'आनन्द' भी है। यथा—

रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २, ७)

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
(तैत्तिरीयोपनिषद् ३, ६)

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २,९)

अर्थ— 'परमात्मा आनन्दरूप है। आनन्द-रस को प्राप्त करके जीव आनन्द वाला हो जाता है'। 'ब्रह्म आनन्दमय है'। 'उसके आनन्द-रूप के जानने से जीव का निखिल भय नष्ट होता है'।

उसी आनन्दरूप परमात्मा के आधार पर ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। यथा—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति॥
(तैत्तिरीयोपनिषद् ३,६)

अर्थात् आनन्द से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, आनन्द के द्वारा ही समस्त संसार की रक्षा होती है और उसी आनन्दमय परमात्मा में ही समस्त भूतों तथा मुक्त जीवों का लय होता है।

परमात्मा की आनन्द-सत्ता सर्व-व्यापिनी होने वे संसार में जो कुछ रस है, उस सबके मूल में वही आनन्द विद्यमान है। केवल विकास और आधार के भेद से उसमें तारतम्य प्रतीत होता है। परमात्मा रस के सागर हैं। उसी रस-सिन्धु से बिन्दु लेकर जीव-जगत् में अनन्त रसों का विकास हुआ है। पिता के चित्त में जो

पुत्र के लिए वात्सल्य-रस, पुत्र के हृदय में जो पिता-माता के लिए श्रद्धा-रूप रस, पति के चित्त में पत्नी के लिए प्रेम-रस, पत्नी के चित्त में जो पति के लिए मधुर रस, माता के चित्त में जो पुत्र के लिए स्नेह-रस, मित्र के चित्त में जो मित्र के लिए एकप्राणता-रूप रस, शिष्य के चित्त में जो गुरु के लिए शुद्ध श्रद्धा-रूप रस, भक्त के चित्त में जो परमात्मा के लिए भक्ति-रस— ये सभी रस रस-रूप आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द परमात्मा की आनन्द-धारा से ही परिस्नुत होते हैं। सभी रसों के मूल में रस-रूप परमात्मा की आनन्द-सत्ता ही विद्यमान है। केवल गुणमयी प्रकृति (माया) की अलग-अलग अवस्था के अनुसार ही एक आनन्द बहुधा विषय-सुख के रूप में प्रकटित होकर संसार के जीवों को मुग्ध करता है और जहाँ माया की सत्ता नहीं है वहाँ ही शुद्ध पूर्णानन्द का प्रकाश है जिसको उपासना के द्वारा सिद्ध जीवन्मुक्त महापुरुष अनुभव किया करते हैं।

विषय-सुख और ब्रह्मानन्द का तत्त्व-निर्णय करते समय आर्य्य-शास्त्रों में कहा गया है कि विषय-सुख ब्रह्मानन्द की ही छाया-मात्र है। छाया को सत्य वस्तु समझकर, प्रतिबिम्ब को सत्य वस्तु मानकर जीव धोखे से ठगा जाता है। प्रकृति के राज्य में सुख नाम से जो कुछ प्रतीत होता है सो आनन्द का ही आभास-मात्र है, क्योंकि जब जगत् आनन्द से ही उत्पन्न है, आनन्द का ही विवर्त्त है तो उसी आनन्द के आभास के सिवाय सुख नाम करके कोई दूसरी वस्तु हो ही नहीं सकती। बृहदारण्यकोपनिषद् (४,३,३२) में लिखा है कि—

एषोऽस्य परमानन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति।

वही ब्रह्म का परमानन्द है, अन्य जीव-समूह इसी आनन्द के ही एक अंश को लेकर संसार में जीवित रहते हैं। पञ्चदशी में लिखा है कि—

अथाऽत्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥
एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥

(पञ्चदशी १५, १-२)

विषय-सुख ब्रह्मानन्द का अंश-रूप और द्वार-स्वरूप है ऐसा श्रुति का भी सिद्धान्त है। परमात्मा जो शुद्ध आनन्द है सो अखण्ड और एक-रस है । जीव उसी आनन्द के अंशमात्र को भोग करता है। अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि में इस श्रौत सिद्धान्त को ही स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि—

विषयसुखमपि स्वरूपसुखान्नातिरिच्यते, विषयप्राप्तौ सत्यामन्तर्मुखे मनसि स्वरूप-सुखस्यैव प्रतिबिम्बनात्, स्वाभिमुखे दर्पणे मुख-प्रतिबिम्बवत् ॥

(अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि, चतुर्थ मुद्गर-प्रहार, सुषुप्ति प्रकरण)

विषय-सुख स्वरूप-सुख के अतिरिक्त नहीं है। विषय-भोग के समय अन्तर्मुखीन चित्त में स्वरूप-सुख का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, जैसा कि सामने रखे हुए दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

अन्तःकरण किसी विषय के सामने आने पर तन्मात्र और इन्द्रियों के द्वारा उस विषय में लिप्त होकर सुख-रूप में परिणत होता है।

अब विचार करना चाहिए कि इस सुख का कारण क्या है ? जगत् में देखा जाता है कि जिस विषय में चित्त एकाग्र होता है उसी से मनुष्य को आनन्द मिलता है। योगी को ध्यान में आनन्द क्यों मिलता है ? उसका चित्त ध्येय-वस्तु में एकाग्र होता है, इसलिए। कवि को प्राकृतिक शोभा देखने से आनन्द क्यों होता है ? उसका चित्त प्रकृति-माता के रूप-सागर में मग्न हो जाता है, इसलिए। मित्र के देखने से मित्र के चित्त में आनन्द क्यों होता है ? दोनों चित्त एक ही सुर में बन्धे हुए होते हैं, इसलिए।

जिसका जिस वस्तु पर राग है उसका उसी में चित्त एकाग्र होने से उसी से आनन्द मिलता है। अब देखना चाहिए कि चित्त के एकाग्र होने से आनन्द क्यों होता है? किसी गुण या किसी भाव के अवलम्बन से जब चित्त एकाग्र होता है तो उस समय अन्यान्य इन्द्रियों का चाञ्चल्य नष्ट होकर उसी एक विषय में चित्त की एक-रसता प्राप्त होती है और उस दशा में एकाग्र चित्त पर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। परमात्मा जब आनन्दमय है तो उसके प्रतिबिम्ब में भी कुछ आनन्द है। जैसे सूर्य्य में प्रकाश रहने से जल में प्रतिबिम्बित सूर्य्य में भी कुछ प्रकाश होता है। विषयी को विषय-भोग के समय वही प्रतिबिम्बित सुख या छाया-सुख मिलता है। विषयी उसको ही भूल से 'यथार्थ आनन्द' समझ कर प्रसन्न होता है और विषय में फँस जाता है। क्या विषय में वास्तविक सुख है? नहीं। सुख हुआ, चित्त एकाग्र हुआ इसलिए। सुख हुआ, एकाग्र चित्त पर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा इसलिए। अतः सिद्धान्त यह निकला कि सब सुख के मूल में एक ब्रह्मानन्द ही है। विषयी को विषय साक्षात् कोई सुख नहीं दे सकता है, केवल चित्त को एकाग्र करने से प्रतिबिम्बित सुख देने का निमित्त बनता है। विषय के अवलम्बन से चित्त एकाग्र होता है। एकाग्र चित्त में परमात्मा प्रतिबिम्बित होते हैं, सुख उसी प्रतिबिम्बित का ही है। यह प्रकृति के सम्बन्ध से छाया-सुख मात्र है, साक्षात् चिदानन्द नहीं है।

यह बात ध्यान में रहे कि समस्त संसार की प्रकृति और गति, शान्ति और सुख के लिए है। संसार में जो कुछ कार्य होता है सबके मूल में सुखेच्छा ही विद्यमान है। छान्दोग्योपनिषद् (७, २२, १) में लिखा है कि—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नाऽसुखं लब्ध्वा करोति, सुखमेव लब्ध्वा करोति।

सुख-प्राप्ति की इच्छा से ही जीव हरेक कार्य्य में प्रवृत्त होता है। यह सुख वास्तव में ब्रह्मानन्द है। आनन्दमय परमात्मा के व्यापक होने से समस्त जीवों में उसकी आनन्द-सत्ता विद्यमान है।

अन्तर्निहित वही आनन्द-सत्ता जीव को हरेक कार्य में प्रवृत्त करती है। संसार में समस्त जीव रात-दिन उसी अन्तर्निहित, निर्विकार, शाश्वत ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए घूम रहे हैं। परन्तु अविद्या के वश-वर्ती होने से जीव उस नित्यानन्द को, जिसके लिए उसके हृदय में प्रेरणा भरी हुई है, भूलकर छाया-सुखरूपी विषय-सुख को ही नित्यानन्द समझ लेता है और उसी में बन्ध जाता है। अज्ञान के कारण जीव को दोनों में भेद प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग अपने नाभि-स्थित कस्तूरी की गन्ध से उन्मत्त होकर जंगल में उसको ढूंढ़ता रहता है। उसे मालूम नहीं पड़ता है कि गन्ध उसके भीतर से आ रही है, बाहर कहीं से नहीं। उसी प्रकार जीव माया के भूल-भूलैये में आकर नहीं समझ सकता कि वह आनन्द जिसके लिए वह नित्य घूम रहा है, उस आनन्द की स्थिति भीतर ही है, कहीं बाहर नहीं है। इस प्रकार से भीतर के नित्यानन्द को भूल कर जीव बाहर उस प्रेम के लिए भटकता रहता है और विषय में उस नित्यानन्द को अन्वेषण करता है। परन्तु जो सुख असल में है वह छाया में कैसे आ सकता है? इस प्रकार वास्तविकता तो यह है कि जीव के हृदय की वासना, भीतर की प्रेरणा, ब्रह्मानन्द से लिए है जबकि उसको मिलने वाला विषय-सुख, चञ्चला प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने के कारण, अनित्य है। ब्रह्मानन्द में निरवच्छिन्न सुख होता है और विषय-सुख में त्रिगुणमयी प्रकृति का सम्बन्ध रहने से दुःख से मिला हुआ सुख होता है। अतः यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो मनुष्य वैषयिक सुख की ओर से चित्त को हटाकर परमात्मा के सान्निध्य की प्राप्ति के लिये जो कुछ पुरुषार्थ करता है उसी का नाम उपासना है। छान्दोग्योपनिषद् (६, ८, २) में लिखा है कि—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राण-बन्धनं हि सौम्य मन इति।

जिस प्रकार व्याध के हाथ में सूत के द्वारा बन्धा हुआ पक्षी इधर-उधर उड़ जाने के लिए चेष्टा करने पर भी जब असमर्थ हो जाता है तो बन्धन के स्थान में ही आकर बैठ जाता है, उसी प्रकार जीव माया के द्वारा रचे हुए भ्रम-जाल में फँसकर अन्तरात्मा के साथ जो प्रेम की डोरी बन्धी हुई है उसको तोड़ने के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु जब समस्त इन्द्रियों के विषय में अन्वेषण करने पर भी उसे कहीं शान्ति प्राप्त नहीं होती है, तो अन्त में समस्त प्रेम और आनन्द के मूल परमात्मा की ही शरण में जाकर उपासना के द्वारा शान्ति प्राप्त करता है।

अब नीचे इसी उपासना या साधना का संक्षिप्त विज्ञान कहा जा रहा है—

परमात्मा के तीन स्वरूप हैं, यथा— ब्रह्म, ईश और विराट्। श्रुति में लिखा है कि—

सोऽयमात्मा चतुष्पात्। (मां० उप० २)

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(ऋ० १०,९०,३)

अलङ्कार-रूप से परमात्मा के चार पाद हैं। उनमें से एक पाद में सृष्टि होती है और तीन पाद सृष्टि के बाहर हैं। परमात्मा के जिस भाव में सृष्टि नहीं है, उसके साथ माया (=प्रकृति) का कोई सम्बन्ध नहीं है। एवं जो भाव से अतीत, अव्यक्त और अवाङ्मनस-गोचर[1] है, उसको '**ब्रह्म-भाव**' या '**निर्गुण ब्रह्म**' कहा जाता है।

परमात्मा के जिस भाव के साथ माया (=प्रकृति) का सम्बन्ध है अर्थात् जिस भाव में उसी के ईक्षण[2] से शक्तिमती

---

१. अर्थात् जो वाणी के द्वारा कहने में नहीं आता और जो मन के सङ्कल्प-विकल्प का विषय नहीं है।

२. द्रष्टव्य छां० उप० ४, २३ : तदैक्षत बहु स्याम्, प्रजायेयेति।

माया संसार के सृष्टि, स्थिति और प्रलय को करती है, प्रकृति के साथ सम्बन्ध-युक्त उस भाव को **'ईश्वर'** कहा जाता है। परमात्मा का तीसरा भाव 'विराट्' है। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डमय जो उसका सर्व-व्यापी शरीर है उसे **'विराट्'** कहते हैं। श्वेताश्वेत-रोपनिषद् में कहा गया है—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

(श्वे० उप० ३, १६)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥

(श्वे० उप० ३, ३)

उस परमात्मा के पाणि, पाद, उसके चक्षु, सिर या मुख सर्वत्र हैं। समस्त विश्व उसका ही रूप है, इत्यादि। यह सब विराट् स्वरूप का वर्णन है।

मनुस्मृति में भगवान् मनु का कथन है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

(मनु० १, ३२)

उस प्रभु ने अपने जगत्-रूपी शरीर के दो भाग किये, अर्द्ध-भाग से पुरुष पैदा हुआ और दूसरे अर्द्ध-भाग से स्त्री उत्पन्न हुई। उस स्त्री में विराट् (सारे जगत् को एक पुरुष के रूपक में) उत्पन्न किया।

यहाँ सब जगत् को एक पुरुष माना है। जिसमें अर्द्ध-भाग स्त्रीपने का और अर्द्ध पुरुषपने का है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और पृथिवी आदि लोक इत्यादि सबमें स्त्री-भाव और पुरुष-भाव है।

सैषा दशाक्षरा विराट् । (श०ब्रा० ११,१,२,३)

न्यूनाद्वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ।

(श०ब्रा० ११,१,२,४)

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यून विराट् से ही सृष्टि होती है।

पुरुष का पुरुष के साथ संयोग होने से, इसी प्रकार स्त्री का स्त्री के साथ संयोग होने से कभी सृष्टि सम्भव नहीं। पुरुष-स्त्री के परस्पर समन्वय से ही सृष्टि होती है। स्त्री सौम्या होने से भोग्य है। पुरुष आग्नेय होने से भोक्ता है। अतएव वह स्त्री से प्रबल है। स्त्री पुरुष की अपेक्षा न्यून है। इस न्यून सम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति होती है। उधर हमारे विराट् में भी 'त्रयी ब्रह्म' आग्नेय होने से भोक्ता है। 'सुब्रह्म' सौम्य होने से भोग्य है। 'ब्रह्म' प्राण है। 'सुब्रह्म' रयि है। प्रश्नोपनिषद् (१, ४-१६) में 'रयि' और 'प्राण' शब्दों से ही दोनों का व्यवहार किया गया है[1]। कहना यही है कि दशाक्षर 'पूर्ण' विराट् से सृष्टि नहीं होती, नव अक्षर के 'न्यून' विराट् से ही सृष्टि होती है। यथा—

न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् ।
(ऐतरेय ब्राह्मण १,६)

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक अक्षर कम हो जानें पर भी विराट् छन्द का विराट्पना अक्षत रहता है।

उपनिषद् में कहा गया है कि सबसे पहले 'असत्' (=कुछ नहीं) था[2]। इस कथन का अभिप्राय शून्यवाद मानना ठीक नहीं है। यहाँ 'असद्' का अर्थ 'बिन्दु' लेना उचित है। बिन्दु का अर्थ शून्य नहीं है, अपितु पूर्ण है। अस्तु।

परमात्मा के इन तीनों स्वरूपों (ब्रह्म, ईश्वर और विराट्) की उपासना के लिए शास्त्र में साधकों के लिए क्रिया-सिद्धाँश रूप से चार योग बताये गये हैं। यथा— (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग। इन चारों योगों के प्रकार, विधि

---

१. प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयत रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।

२. असद् वा इदमग्र आसीत्। (तै० उप० २, ७, १)

आदि के विषय में आगे सम्पूर्ण-योग के साधन-प्रकरण में बतलाया जायगा।

चित्त और उसकी एकाग्रता

योग द्वारा जिस चित्त की एकाग्रता में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है उसके विषय में प्रथम ज्ञात करना चाहिये कि 'चित्त' क्या है? चित्त का अर्थ अन्तःकरण है और वह मनस्तत्व-रूप है[१]। वृत्तियाँ उसकी तरङ्ग-रूप हैं अर्थात् विषय के सम्बन्ध से चित्त का जो परिणाम होता है उसी को 'वृत्ति' कहते हैं[२]। ये चित्त की वृत्तियाँ पाँच हैं। यथा—

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये ही पाँच

---

१. किसी क्रिया अथवा कार्य को सम्पन्न करने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है उनको 'साधन' कहते हैं। ऐसे साधनों में से जिसकी क्रिया से फल की साक्षात् सिद्धि हो जाती है उसे 'करण' कहते हैं। जैसे फल को काटने की क्रिया में चाकू करण (Instrumental) है। यद्यपि सांख्य-शास्त्र में पुरुष (=आत्मा) के १३ करण हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को 'बाह्य' करण कहते हैं जबकि बुद्धि, अहङ्कार और मन इन तीनों को 'अन्तःकरण' कहते हैं। वेदान्तशास्त्र में 'चित्त' के नाम से अन्तःकरण का एक चौथा अवयव भी माना है। पतञ्जलि के योगशास्त्र में 'चित्त' शब्द से बुद्धि का अभिप्राय लिया गया है क्योंकि अन्तःकरण के मन आदि तीन या चार अवयवों में बुद्धि ही प्रधान है क्योंकि पुरुष का साक्षात् रूप से सम्बन्ध चित्त (=बुद्धि) की वृत्तियों के साथ है। —सम्पादकः

२. यहाँ वृत्ति शब्द ज्ञान का वाचक है। यह ज्ञान चित्त (बुद्धि) का परिणाम ही होता है। जैसे एक ही स्वर्ण-पिण्ड कुण्डल, कड़ा, अँगूठी आदि नाना आकारों को धारण करता है, तो कुण्डल आदि पदार्थ स्वर्ण का परिणाम कहे जाते हैं। वैसे ही चित्त-सत्त्व बाहरी या भीतरी विषयों के सम्बन्ध में आता है तो उन्हीं विषयों के आकारों को धारण कर लेता है। घट के सम्पर्क में आने पर चित्त घटाकार में परिणत हो जाता है। यही चित्त की वृत्ति कही जाती है। प्रकृति का विकार होने से चित्त जड़ है। जड़ को ज्ञान नहीं होता है। दूसरी ओर चेतन पुरुष चित्त की तरह कभी परिणाम को प्राप्त नहीं होता। फिर भी अपरिणामी पुरुष घटादि चित्त-परिणाम-रूपी

वृत्तियाँ हैं[1]। ये वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' भेद से दो प्रकार की हैं। जिन वृत्तियों के उदय होने से पुरुष के भावी जन्म का आरम्भ होता है उनको क्लिष्ट और जिनके उदय होने से भावी जन्म का उदय नहीं होता अर्थात् जिनसे पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है उनको अक्लिष्ट कहते हैं।

पाँच वृत्तियों की संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है—

(१) **प्रमाण**— चित्त (=बुद्धि) की वह वृत्ति जिसके द्वारा किसी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान (प्रमा) प्राप्त हो उसको प्रमाण कहते हैं।

ऐसे प्रमाण न्याय-शास्त्र में चार और योग-शास्त्र और सांख्य-शास्त्र में केवल तीन माने गये हैं। यथा—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. आगम वा शब्द।

'प्रत्यक्ष'—जो इन्द्रियों से जाना जावे। 'अनुमान'— जैसे धूम को देखकर अग्नि जाना जावे। यह अनुमान तीन प्रकार

ज्ञानों वाला हो जाता है। जैसे मरकत-मणि लाल न होने पर भी लाल जपा-कुसुम पर रखी जाने पर लाल दिखाई देती है। वैसे पुरुष की सन्निधि में होने से चित्त के ज्ञान-रूप परिणाम अपरिणामी चेतन में झलकते हैं। इस कारण पुरुष सदा चित्त-वृत्तियों से खिंचा रहता है। इस प्रकार अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं हो पाता। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में चित्त-वृत्तियाँ चलती ही रहती हैं। सुषुप्ति भी चित्त की एक अभावात्मिका चित्त-वृत्ति है। अतः पुरुष को अपने स्वरूप में अवस्थित होने के लिए यह अनिवार्य है कि इन चित्तवृत्तियों का निरोध (=अभाव) किया जाय। जब ऐसा हो जाता है तो पुरुष की यह तुरीयावस्था (=चतुर्थी अवस्था) कही जाती है। यह केवल समाधि-रूप योगावस्था में सम्भव है। चित्तवृत्तियों के सर्वथा निरुद्ध होने पर अपने रूप में अवस्थित आत्मा में परमात्मा और उसके परमानन्द की अनुभूति होती है अन्यथा नहीं। अतः योगानुष्ठान अनिवार्य है।

—सम्पादकः

१. यद्यपि चित्त की वृत्तियाँ अनन्त हैं परन्तु वे सभी वृत्तियाँ इन पाँचों प्रकारों में ही समा जाती हैं। अतः ये पाँच कही गई हैं। —सम्पादकः

का होता है। यथा— (i) पूर्ववत्, (ii) शेषवत्, (iii) सामान्यतोदृष्ट। 'पूर्ववत्'— पूर्व अर्थात् कारण को देखकर कार्य का ज्ञान, जैसे बादल को देखकर उसकी भावी वृष्टि का ज्ञान। दूसरा 'शेषवत्'— जहाँ कार्य को देखकर कारण का ज्ञान। जैसे नदी की बाढ़ को देखकर ऊपर पहाड़ पर हुई वर्षा के होने का ज्ञान, सृष्टि को देखकर उसके कर्त्ता ईश्वर का अनुमान और सुख-दुःख को देखकर पुण्य-पाप के आचरण के होने का ज्ञान होना। तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट'—जो न किसी का कारण हो, न किसी का कार्य हो परन्तु सामान्य बात हो। जैसे किसी को पहले एक स्थान में देखकर अब किसी अन्य स्थान पर उसको देखने से उसके चलने का ज्ञान होना।

तीसरे प्रमाण का नाम 'आगम' वा 'शब्द' है। **आप्तोपदेशः शब्दः**[1] अर्थात् सत्य-वक्ता (परोपकारी) का उपदेश ही शब्द—नामक प्रमाण है। वेदानुकूल सत्य और उसके प्रतिकूल असत्य जानना चाहिए।

इन तीन प्रमाण-रूपी चित्त-वृत्तियों की तरंगें उठती रहती हैं। ये तथा आगे वर्णित की जाने वाली अन्य चित्त-वृत्तियाँ योग-साधन के द्वारा जब रुक जाती हैं तब चित्त के स्थिर होने से अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर आत्मा का ईश्वर से मेल होता है।

(२) **विपर्यय**— उलटा ज्ञान जैसे रस्सी को साँप, सीपी को चाँदी, दुःख को सुख जानना। यह प्रमाण का ठीक उलटा है। इसको अविद्या कहते हैं जो चार प्रकार की है। (१) झूठ को सत्य मानना। (२) अशुद्ध को शुद्ध मानना। (३) दुःख को सुख मानना। (४) जड़ पाषाणादि को चैतन्य देव आदि मानना[2]। यह चतुर्विध अविद्या पाँच क्लेशों में एक क्लेश है[3]। अर्थात्

१. न्यायसूत्र १, १, ७।

२. योग-सूत्र २, ५ : अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

३. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच 'क्लेश' हैं। इनमें से अविद्या अगले चार क्लेशों की जननी है। (योग-सूत्र २, ३)

—सम्पादकः

जिसको क्लेश नें सताया है उसको ईश्वर का योग प्राप्त नहीं हो पाता। इसके निरोध (रुक जाने) से ईश्वर की प्राप्ति-रूप योग होता है।

(३) **विकल्प-वृत्ति—** विकल्प का अर्थ विरुद्ध कल्पना करना। जैसे, आग से तपा हुआ गरम लोहा देखकर कहना कि लोहा जलाता है। वास्तव में तो लोहे में समाई हुई अग्नि ही जलाती है। बहुधा लोग कहते हैं कि काशी आ गया जबकि गाड़ी काशी के समीप चलकर आ पहुँची है। इसी प्रकार सूर्य निकला व डूबा। वास्तव में पृथिवी घूमती है। भूमि का जो भाग सूर्य्य के सामने आ जाता है वहाँ दिन का प्रकाश हो जाता है। वास्तव में न सूर्य निकलता है, न डूबता है। जब भूमि सूर्य्य के सामने आती है तो सूर्य्य का निकलना और सूर्य्य के पीछे चली जाती है तो सूर्य्य का डूबना बोलते हैं। इसी प्रकार 'बाँझ का पुत्र' वा 'आकाश का पुष्प' यह भी कल्पित है। इनको भी विकल्प कहते हैं। यह विकल्प भी योग का बाधक है। इसके त्याग से योग होता है।

(४) **निद्रा-वृत्ति—** जो-जो पदार्थ जाग्रत् और स्वप्न में मनुष्य को दिखाई देते थे, वे अब नहीं दिखाई देते। ऐसी अवस्था का नाम निद्रा वा सुषुप्ति है। यह भी योग की वैरिणी है[1]। इसके रहते हुए ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता है।

(५) **स्मृति-वृत्ति—** जिसको स्मरण (याद) कहते हैं, अर्थात् जो बात देखी वा सुनी वा अनुमान की हो। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार का अनुभव किया हो उसका संस्कार चित्त पर जम जाता है। यह संस्कार स्थायी होता है और अन्तःकरण में सोया हुआ-जैसा पड़ा रहता है। जब कोई निमित्त उसे जगा देता है

---

१. यद्यपि गहरी निद्रा में जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों का अभाव रहता है। परन्तु तब भी चित्त अभावात्मक वृत्ति वाला होता है। यही कारण है कि योगसूत्रकार पतञ्जलि ने निद्रा को अभावात्मक प्रतीति का आलम्बन कहा है (योग-सूत्र १, १०; अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा)। —सम्पादकः

तब उस जगे हुए संस्कार से स्मरण हो जाता है। यह स्मृति-रूप वृत्ति ईश्वर के ध्यान करने के समय विघ्नकारक होती है।

इस प्रकार ये पाँचों वृत्तियाँ चित्त को तरङ्गित करती रहती हैं। चित्त स्थिर नहीं रह पाता। अतः ये वृत्तियाँ समाधि की विरोधिनी होती हैं। समाधि के लिए इन्हें रोकना परम आवश्यक है।

वृत्तियों के निरोध का उपाय

उपर्युक्त पाँच वृत्तियों के निरोध (रोकने) के दो उपाय हैं। एक **अभ्यास** दूसरा **वैराग्य**। जैसा कि पातञ्जल योगशास्त्र का वचन है—

अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगसूत्र १,१२)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

१. **अभ्यास**— किसी काम का बारम्बार करना, जिसको मश्क वा प्रेक्टिस कहते हैं, उसे अभ्यास कहते हैं। यहाँ योगाङ्गों[1] का अभ्यास वा साधन से तात्पर्य है। अर्थात् नित्य-प्रति परमेश्वर के गुणों का ध्यान वा 'ओ३म्' नाम का जाप वा वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन करना अभ्यास कहलाता है। इसलिए जितना-जितना अभ्यास (साधन) बढ़ावेंगे उतना ही जल्द योग सिद्ध होगा।

---

१. योग के आठ अङ्ग वा साधन ये हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि। इनके सिद्ध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इन योगाङ्गों का ठीक तरह जैसे-जैसे अनुष्ठान किया जाता है वैसे ही वैसे चित्त की अशुद्धि कम होती जाती है और जैसे-जैसे यह अशुद्धि कम होती जाती है वैसे-वैसे ही सम्यक् ज्ञान की दीप्ति बढ़ती जाती है जब तक कि विवेक-ज्ञान प्राप्त न हो जाय। तात्पर्य यह कि योगाङ्गों के अनुष्ठान से एक ओर चित्त के मल दूर हो जाते हैं तो दूसरी ओर आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है (योगसूत्र २,२८ : योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः)। —सम्पादकः

२. **वैराग्य**— राग से रहित होना। यह दूसरा साधन है। अर्थात् संसार के पदार्थों से राग (प्यार) घटाने से ईश्वर से योग होता है। क्योंकि मनुष्य का मन एक ही है, चाहे इसको माया से मिलाओ वा माया-पति परमात्मा से। यदि ईश्वर से योग चाहते हो तो संसार के रोगकारक विष-तुल्य विषय-भोग को त्याग दो।

अभ्यास परिपक्व करने का उपाय

पतञ्जलि मुनि का वचन है—

ईश्वर-प्रणिधानाद्वा। (योगसूत्र १, २३)

अर्थात् ईश्वर पर प्रणिधान (=विशेष प्रेम) से ही मन रुक जाता है, फिर ईश्वर में लग जाता है।

वैराग्य की विशेष व्याख्या

यह बात विशेष ध्यान में रखनी आवश्यक है कि वैराग्य के विना साधना में रुचि नहीं होती है। इसलिए इसके विषय में यहाँ पर विशेष व्याख्या की जा रही है—

वैराग्य किसको कहते हैं, इसी विषय में योग-शास्त्र में लिखा है—

दृष्टानुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम्।
(योगसूत्र १, १५)

दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक कामिनी, काञ्चन आदि विषय तथा आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक स्वर्गादि विषय इन दोनों में, विषय-संयोग होने पर भी, चित्त की जो भोग-रहित वृत्ति है उसे वैराग्य कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि कामिनी, काञ्चन आदि ऐहलौकिक नाना प्रकार के विषयों तथा स्वर्ग के नाना पारलौकिक विषयों का

सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ होने पर विचारवान् व्यक्ति के चित्त का जब उक्त विषयों की ओर आकर्षण नहीं होता, तब विचारशील व्यक्ति के अन्तःकरण की उस विषय-राग-रहित अवस्था को वैराग्य कहते हैं।

शास्त्रकारों ने वैराग्य को चार भागों में विभक्त किया है। उन्हीं चार प्रकार की वैराग्य-दशा को समझाने के लिए अन्तर्-दृष्टि-सम्पन्न योगिराजों ने साधक के अन्तःकरण की चार दशाओं का वर्णन किया है। वे चारों दशाएँ निम्न प्रकार की हैं—

१. यतमान-संज्ञा। **२. व्यतिरेक-संज्ञा।**
३. एकेन्द्रिय-संज्ञा। **४. वशीकार-संज्ञा।**

१. यतमान-संज्ञा— इस जगत् में सार क्या है और संसार क्या है? गुरु और शास्त्र की सहायता से इसके जानने के लिए जो यत्न है, चित्त की यही अवस्था **'यतमान-संज्ञा'** है।

२. व्यतिरेक-संज्ञा— चित्त में जितने दोष पहले थे उनमें से इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं। इस प्रकार के विवेचन को **'व्यतिरेक-संज्ञा'** कहते हैं।

३. एकेन्द्रिय-संज्ञा— विष-रूप विषयों में दुःख के ज्ञान से इन्द्रियों की अप्रवृत्ति होने पर भी अन्तःकरण में जो विषय-तृष्णा की स्थिति रहती है उसे ही **'एकेन्द्रिय-संज्ञा'** कहते हैं।

४. वशीकार-संज्ञा— अन्त में अन्तःकरण से भी विषय-तृष्णा का नाश होने से चित्त की जो अवस्था होती है कि जिसमें विषय सामने प्राप्त होने पर भी उनमें उत्सुकता नहीं रहती, उसे ही **'वशीकार-संज्ञा'** कहते हैं।

पूज्यपाद महर्षियों ने वैराग्य के चार भेदों की चार संज्ञाएं की हैं[1]। यथा—

---

१. देखिए पातञ्जल योगसूत्र १, २१; २२ और उन पर व्यास-भाष्य। वहाँ संवेग शब्द का प्रयोग है। वाचस्पति मिश्र ने इस संवेग का अर्थ वैराग्य किया है। तदनुसार ही यहाँ उपर्युक्त चार संज्ञाएँ कहीं हैं। —सम्पादकः

(१) मृदु वैराग्य (२) मध्य वैराग्य
(३) अधिमात्र वैराग्य (४) पर-वैराग्य

१. **मृदु-वैराग्य**— जब विवेकवान् व्यक्ति के विवेक-युक्त अन्तःकरण में ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयों का दोष अनुभव में आने लगता है तब अन्तःकरण की उस वैराग्य-वृत्ति को **'मृदु-वैराग्य'** कहते हैं।

२. **मध्य-वैराग्य**— इसके अनन्तर जब विवेक-भूमि में अग्रसर साधक के अन्तःकरण में ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रति अरुचि होने लगती है, विवेकी उपासक की उस उन्नततर दशा का नाम **'मध्य वैराग्य'** है ।

३. **अधिमात्र-वैराग्य**— वैराग्य की तीसरी अवस्था वह कहाती है जब विषय-भोग में विवेकी को प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होने लगे। दुःखदायी पदार्थों में चित्त की आसक्ति होना असम्भव है, अतः विषयों का दुःखदायी भाव जब साधक के अन्तःकरण में प्रतिष्ठित हो जाता है जिससे विषय का स्वतः ही सम्बन्ध-त्याग हो जाता है, वैराग्य की उस उन्नततम अवस्था का नाम **'अधिमात्र-वैराग्य** है।

४. **पर-वैराग्य**— इस दशा में स्थूल इन्द्रियों के द्वारा विषय में अनासक्ति रहने पर भी अन्तःकरण में विषय का सूक्ष्म संस्कार रह जाता है और जब योग-युक्त साधक का अन्तःकरण एक-बारगी ही ऐहलौकिक पारलौकिक विषय-मात्र से संस्कार-शून्य होकर मुख फेर लेता है, अन्तःकरण की उस सर्वश्रेष्ठ अवस्था का नाम **'पर-वैराग्य'** है।

पूर्व-कथित अन्तःकरण की चार भूमियों के साथ उन चार प्रकार के वैराग्यों का समन्वय करने पर जो एक प्रकार का सिद्धान्त निष्पन्न होता है वह इस प्रकार है—

(१) यतमान-संज्ञा से मृदु-वैराग्य का सम्बन्ध जुड़ता है।

(२) व्यतिरेक-संज्ञा से मध्य-वैराग्य का सम्बन्ध बनता है।

(३) एकेन्द्रिय-संज्ञा से अधिमात्र-वैराग्य का सम्बन्ध स्थापित होता है।

(४) वशीकार-संज्ञा से पर-वैराग्य का सम्बन्ध स्थापित होता है।

साधन-पथ में वैराग्य का प्रयोजन क्या है? क्या साधक वैराग्य के भी विना आध्यात्मिक राज्य में अग्रसर हो सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर में मुण्डकोपनिषद् (१,२,१२) में लिखा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्-विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

अर्थ— ब्रह्म-विद्या का अधिकारी कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों वा गतियों की परीक्षा करके वैराग्य (निर्वेद) को प्राप्त होवे, क्योंकि संसार में कोई भी अर्थ, जो कर्म के फल-स्वरूप ही प्राप्त होता है, नित्य नहीं है। तब कर्म से क्या प्रयोजन है? उस नित्य पदार्थ को विशेषतया ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह विरक्त जिज्ञासु समिधा हाथ में लेकर वेद-ज्ञाता ब्रह्म-परायण आचार्य की सेवा में जाये।

भावार्थ—उपनिषद् में इस श्लोक से पूर्व श्लोक (१,२,११) में कहा गया है कि फल के विना प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रथम ब्रह्म-ज्ञान का फल कहकर अब उसके अधिकारी का कर्त्तव्य-निरूपण किया जाता है। इस श्रुति (१, २, १२) में अधिकारी को 'ब्राह्मण' शब्द से निर्देश किया गया है। सो यहाँ पर ब्राह्मण शब्द वर्ण-परक नहीं है किन्तु ब्रह्म-विद्या में जिसका स्वाभाविक अनुराग हो और जो उसके लिए सर्वस्व का त्याग कर सके वही यहाँ पर ब्राह्मण शब्द का वाच्यार्थ है। ब्रह्म की उत्कट जिज्ञासा 'जिसको उत्पन्न हुई है वह पहले कर्म-चित लोकों (=भोगों) की परीक्षा करे अर्थात् कर्म के द्वारा जो नाना प्रकार के मनुष्य, पशु,

पक्षी, कृमि, कीट और वृक्षादि योनियाँ प्राप्त होती हैं और उनके निमित्त से जो-जो गर्भ की यातनायें, जन्म-मरण के त्रास, शत्रु और रोगादि के आक्रमण, लोभ, मोह, भय, शोक और द्वेष से उत्पन्न नाना प्रकार के शारीरिक एवं मानस ताप सहने पड़ते हैं; इन सबका परिणाम तत्त्व-दृष्टि से देखकर और यह समझकर कि—**दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**[1]—संसार से विरक्त हो जावे और अपने मन में यह सोचे कि जब कर्म ही अनित्य है तो उसका फल नित्य कैसे हो सकता है— **न ह्यध्रुवैः ध्रुवं प्राप्यते।**

कर्म से उपरत होकर जिज्ञासु का जो कर्त्तव्य है अब उसको कहते हैं—

इस प्रकार संसार की असारता और कर्मों की अनित्यता को ज्ञान-दृष्टि से देखता हुआ जिज्ञासु निर्विषय हो जावे, तब वह उस नित्य वस्तु को यथार्थ रूप से जानने के लिए नम्रता-पूर्वक ऐसे आचार्य की शरण में जावे जो बहु-श्रुत और ब्रह्म-निष्ठ हो। केवल अपनी तुच्छ बुद्धि के भरोसे पर कुतर्क और हेत्वा-भास[2] का ही आश्रय न लेवे (जैसा कि आजकल के प्रायः नव-शिक्षितों में देखा जाता है)। गणित और भूगोल आदि साधारण विषयों को जानने के लिए तो, एक नहीं, अनेक आचार्यों के शिक्षण

---

१. योगसूत्र २,१५ : **परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुण-वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।** अर्थात् सुख-दुःख की विवेचना करने वाले विवेकी पुरुष को ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख भी दुःख ही प्रतीत होते हैं।

—सम्पादकः

२. तर्कशास्त्र के अनुसार हेतु (Logical argument) में पाँच गुण होने आवश्यक हैं— (१) साध्य-स्थल पर हेतु रहे। (२) दृष्टान्त में भी रहे। (३) साध्य के अभाव-स्थल में नहीं पाया जाय। (४) हेतु के विषय का किसी बलवत्तर प्रमाण से बाधन न हो। (५) साध्य के विरुद्ध बात को सिद्ध करने वाला उतना ही बलवान् कोई हेतु न पाया जाय। हेतु में इन पांच गुणों में से कोई भी न पाया जाय तो वह हेतु का दोष होता है। ऐसे हेतु को हेतु न कहकर 'हेत्वाभास' कहा जाता है। इस हेत्वाभास से यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

—सम्पादकः

की अपेक्षा रखते हैं और चिर-काल तक उनका अभ्यास एवं परिशीलन करते हैं परन्तु असाधारण और सबसे गहन ब्रह्म-विद्या को विना सद्-गुरु के और विना अभ्यास के केवल स्व-कल्पित तर्क और हेतुओं में ही अपने आपको महाविद्वान् मान बैठते हैं। समित्पाणि होकर गुरु के पास जाना पूर्व-काल में शिष्यों की परिपाटी थी जिससे उनकी नम्रता और जिज्ञासा दोनों सूचित होती थी। श्रीभगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्योपजायते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥

तीव्र वैराग्य और मुमुक्षुता के होने से ही शम, दम आदि साधन फलवान् होते हैं। शास्त्र में लिखा है कि जिस प्रकार पक्षी में उड़ने की शक्ति रहने पर भी विना दोनों पंखों की सहायता के वह उड़ नहीं सकता। उसी प्रकार साधन-अभ्यास द्वारा मुक्ति-पद की प्राप्ति की सम्भावना होने पर भी वैराग्य-युक्त साधन के विना साधक सिद्धि को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधन के अभ्यास द्वारा साधक शनैः-शनैः अपने चित्त की त्रिगुणात्मक वृत्तियों का निरोध करके मुक्ति-भूमि में पहुँच सकता है। परन्तु अनादि-काल से सम्बन्ध-युक्त विषय-वासना जब तक छिन्न न हो जायें तब तक अन्तःकरण में स्थायी शान्ति उत्पन्न होना असम्भव है। वैराग्य-अभ्यास द्वारा साधक जितना-जितना विषय-वासना की रज्जु को शिथिल करता जायगा, वह उतना ही मुक्ति-पथ द्वारा कैवल्य-भूमि की ओर अग्रसर हो सकेगा। वैराग्य के अभ्यास द्वारा मुमुक्षु साधक का अन्तःकरण विषय-वासना से शून्य हुआ करता है और साधन के अभ्यास द्वारा साधक के चित्त में ब्रह्मस्थ-भाव रूपी मुक्ति-पद का उदय हुआ करता है। यही वैराग्य से संयुक्त साधन का विज्ञान है। फलतः विषय-वैराग्य द्वारा ही प्रारम्भ-अवस्था में क्षण-भंगुर सांसारिक विषयों में अनिच्छा उत्पन्न होकर साधक का अन्तःकरण साधन-रूपी सत्-पुरुषार्थ में लगा करता है। मध्य अवस्था में तीव्र वैराग्य की सहायता से ही सिद्ध योगी अणिमा, महिमा आदि जैसी विभूतियों के पद से अपने आपको बचा सकता है और

शेष दो अवस्थाओं में पर-वैराग्य की सहायता लेकर मुक्ति-भूमि में दृढ़ता-स्थापन कर सकता है[1]। इस कारण योग-मार्ग के आचार्य-गण ने वैराग्य की सर्वोपरि आवश्यकता वर्णित की है। योगसाधन-विज्ञान के प्रधान प्रवर्त्तक योगिराज महर्षि पतञ्जलि ने चित्त-वृत्ति-निरोध रूप मुक्ति-पद को प्राप्त करने के अर्थं आज्ञा की है कि—

अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योग-सूत्र १,१२)

---

१. वैराग्य और अभ्यास के अनुष्ठान से यहाँ योगाभ्यासी की तीन अवस्थाओं का आरम्भ, मध्य और अन्त—इन शब्दों से उल्लेख किया गया है। वस्तुतः योगसूत्र (३,५१) के व्यास-भाष्य में वैराग्य-युक्त योगाभ्यास की दृष्टि से चार प्रकार के योगी कहे गये हैं— प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञा-ज्योति और अतिक्रान्त-भावनीय। इनमें से अन्त के दो प्रकारों को एक मानकर यहाँ तीन भेद माने हैं। इनमें से प्रथमकल्पिक वह है जिसका पर-चित्तादिक-विषयक अतीन्द्रिय ज्ञान अभी प्रवृत्त होने लगा है। मधु-भूमिक वह है जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो गई है (द्र० योगसूत्र १, ४८) और भूत और इन्द्रियों को वश में करने का इच्छुक है। तीसरा प्रज्ञा-ज्योति नामक योगी वह है जिसमें भूत-जय (योगसूत्र ३, ४४) और इन्द्रिय-जय (३, ४७) प्राप्त की हैं और इसके फलस्वरूप परिचित्तादि का ज्ञान भी उसे प्राप्त है और आगे की विशोका से लेकर पर-वैराग्य पर्यन्त भूमियों पर विजय करने में लगा है। चतुर्थ योगी वह है जिसकी असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध हो गई है, अब साधनीय कुछ नहीं है, केवल चित्त-लय ही एकमात्र पुरुषार्थ बचा हुआ है क्योंकि विवेक-ख्याति के रूप में चित्त विद्यमान है। प्राकृतिक होने के कारण उससे भी विरक्त होकर उससे भी पृथक् होकर कैवल्य को प्राप्त करता है। इन चार योगियों में से तृतीय और चतुर्थ पूर्णतः इन्द्रिय-जयी होने से सब प्रकार के विषयों से अतिक्रमण कर चुके होते हैं। अतः उन्हें सङ्ग-दोष का भय नहीं है। उत्कृष्ट स्थानों के स्वामी महेन्द्र आदि देव-गण उन्हें लुभाकर पतित नहीं कर सकते। प्रथम योगी तो सिद्धि की प्रारम्भिक स्थिति में ही हैं। अतः देव-गणों के द्वारा उनके प्रलोभन का प्रश्न ही नहीं। केवल द्वितीय मधुभूमिक योगी ही योग की अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ पाने पर देवों के द्वारा दिये गए लोभ के चंगुल में फँस सकते हैं। तब वैराग्य-वृत्ति ही उनका कवच होता है। इन प्रलोभनों का स्वरूप व्यास-भाष्य (३, ५१) में द्रष्टव्य है। —सम्पादकः

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त-वृत्तियों का निरोध हुआ करता है। योग-लक्ष्य-रूपी मुक्ति-पद की प्राप्ति न तो केवल अभ्यास द्वारा ही की जा सकती है और न केवल वैराग्य द्वारा ही लक्ष्य का साधन हो सकता है। यह दोनों पुरुषार्थ ही कैवल्य-पद की प्राप्ति के अर्थ परस्पर सहायक हैं।

गीता में भी कहा है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

(गीता ६, ३५)

वैराग्य और साधन के द्वारा ही मनोनिरोध-पूर्वक आत्म-साक्षात्कार होता है। जब तक अन्तःकरण में वैराग्य का उदय न हो तब तक उसकी दृष्टि बहिर्मुखी ही रहती है और जब तक अन्तःकरण की दृष्टि बहिर्मुखी रहती है, तब तक उसमें ज्ञान-रूप पूर्ण प्रकाश होना असम्भव है। इस कारण जब पूर्ण वैराग्य का उदय होता है और अन्तःकरण अपना मुख बाहर की ओर से फेर कर भीतर की ओर देखने लगता है तभी उसको आत्म-दर्शन हो सकता है।

साधन के विषय में आचार्य-गण की ऐसी सम्मति है कि वैराग्य का तारतम्य देखकर ही जिज्ञासु को योग-मार्गों का उपदेश देना उचित है। अर्थात् उनके विचार में वैराग्य के पूर्व-कथित चार भेद यथा— मृदु वैराग्य, मध्य वैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और पर-वैराग्य के अनुसार साधन-अधिकार भी तारतम्य के अनुरूप चार रखे गए हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार मृदु-वैराग्य के अधिकारी को मन्त्र-योग, मध्य वैराग्य के अधिकारी को हठ-योग और अधिमात्र वैराग्य के अधिकारी को लय-योग का उपदेश देना उचित है। एवं पर-वैराग्य अधिकारी ही यथार्थ-रूपेण राज-योग का अधिकारी हुआ करता है। इस प्रकार से योगाचार्य-गण साधन की चारों अवस्थाओं का सम्वन्ध वैराग्य की चारों अवस्थाओं के साथ स्थापन किया करते हैं। साधन और वैराग्य के युगल स्वरूप का यही अपूर्व विज्ञान है।

वैराग्य की प्रथम अवस्था में साधक की दृष्टि प्रवृत्ति-मार्ग

के भोगों से हटने लगती है, एवं वैराग्य कुछ अपूर्व और शान्ति-दायक पदार्थ है ऐसा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्था में साधक का चित्त एकान्त-सेवन, वैराग्य-सम्बन्धी एवं अध्यात्म-भाव-सम्बन्धी ग्रन्थों के पाठ और साधु-महात्मा-गण के सङ्ग करने में प्रवृत्त हुआ करता है। वैराग्य की दूसरी अवस्था में अपने आप ही साधक का अन्तःकरण इन्द्रियों के सुखों के भोगों से उपराम हो जाता है। तब साधक को यह संसार सूना सा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्था में साधक के चित्त की विकलता बढ़ जाती है और उसको आहार-विहार आदि सब कार्य परिणाम में दुःख-रूप ही प्रतीत होने लगते हैं। तब वह साधक एकान्त-वासी होकर सदा क्षण-भंगुर संसार के क्षण-भंगुर परिणाम को सोचा करता है। मौन रहना, ब्रह्मचर्य-धारण, कामिनी-सहवास में अरुचि, धन-संग्रह करने में अनिच्छा आदि वैराग्य-युक्त वृत्तियों की तीव्रता उसके अन्तःकरण में हो जाया करती है। तत्पश्चात् वैराग्य की तृतीय अवस्था में ज्ञान की अधिकता से साधक के चित्त की विकलता न्यून हो जाती है एवं तब वह साधक सद्-वार्तालाप, सदुपदेश-कथन एवं सत्सङ्ग करने में सदा ही रत रहा करता है। इस उन्नत अवस्था में ज्ञान-दृष्टि द्वारा साधक अपने पुत्र, कलत्र, मित्र आदि परिजनों को परमस्वार्थ-परायण जानकर उनसे अपने अन्तःकरण को सम्पूर्ण-रूपेण राग-रहित करने में समर्थ हो जाता है। स्त्री-जनों को परम-दुःख और नरक का कारण समझकर उनके सङ्ग को विषवत् अहितकारी मान लिया करता है और धन को मोह और क्लेशों का कारण समझकर उसके स्पर्श करने में भी अपनी हानि ही समझा करता है। अतः इस अवस्था में साधक को अध्यात्म-राज्य का परम आनन्द प्राप्त होने लगता है। तदनन्तर इस उत्तम वैराग्य के परिणाम-स्वरूप पर-वैराग्य पद की प्राप्ति हुआ करती है। यह पर-वैराग्य वैराग्य-साधन की चतुर्थ अवस्था वैराग्य-भूमि की चरम-सीमा है। इस सर्वोत्तम वैराग्य के प्राप्त करते ही साधक का अन्तःकरण पूर्ण-रूपेण ऐहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के सुखों से

मुँह फेर लिया करता है। तब उसकी अन्तर्-दृष्टि में सदा आत्म-पद की ही लगन लगी रहती है, एवं उसके समीप सब वैषयिक भोग-समूह पूर्ण-रूपेण लय को प्राप्त हो जाया करते हैं। इसी कामना-तरङ्गों से रहित, वैषयिक भोगों के नाशकारी स्वरूप परम-शान्ति और अद्वैतभाव-युक्त सर्वोत्तम वैराग्य के परिणाम-स्वरूप परम-आनन्द-रूपी मुक्ति-पद का उदय हुआ करता है। इस संसार-भान-नाशकारी पर-वैराग्य से कैवल्य-रूपी मुक्ति-पद का साक्षात् सम्बन्ध है। इस रीति के अनुसार प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था, द्वितीय अवस्था से तृतीय अवस्था और तृतीय अवस्था से इस चतुर्थ अवस्था में पहुँच कर साधक कैवल्य-भोगी हो जाता है।

वैराग्य की उत्पत्ति के प्रधान कारण और वैराग्य-दशा के चार भेद ऊपर वर्णन किए गए हैं। अब वैराग्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक रहस्य कुछ कह देना उचित है। जगद्धारक धर्म की अलौकिक गति का रहस्य यह है कि जड़ पदार्थ क्रमशः तमोगुण की ओर अग्रसर होकर पूर्ण तमोगुण को प्राप्त करता हुआ लय को प्राप्त होता है। परन्तु चेतन पदार्थ सत्त्व-गुण के राज्य में अग्रसर होता हुआ पूर्ण सत्त्व-गुण को प्राप्त करके अन्त में तत्त्वातीत (=गुणातीत) होकर मुक्त हो जाता है। अतः उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज जीव अपनी तमोमयी दशा को उल्लङ्घन करके जब मनुष्य-योनि को प्राप्त करते हैं उस समय मनुष्य-भावापन्न जीव को रजः और सत्त्व का अधिकार प्राप्त होता है। जब तक मनुष्य को रजः और सत्त्व की मध्यम-दशा प्राप्त रहती है तब तक उसकी मनोवृत्ति इन्द्रिय-सुख में ही फँसी रहती है। परन्तु ऊर्ध्वगामी जीवात्मा की गति स्वभावतः परमात्मा की ओर होने के कारण क्रमशः उसको सत्त्व-राज्य का अधिकार मिलना स्वतः सिद्ध है। सत्त्व-गुण का लक्षण शान्ति और ज्ञान है। अतः उन्नत मनुष्य को क्रमशः शान्ति-प्रद और ज्ञान-प्रद अधिकार मिलना स्वतः सिद्ध है। क्रमशः वह भाग्यवान् ज्ञानी व्यक्ति अध्यात्म-राज्य में जैसे-जैसे अग्रसर होता जायगा वैसे-वैसे उसको यथा-क्रम मृदु-वैराग्य, मध्य-वैराग्य, अधिमात्र-वैराग्य और पर-

वैराग्य की प्राप्ति होगी। फलतः मनुष्यत्व के उन्नत अधिकार में वैराग्य की उत्पत्ति होना स्वतः सिद्ध है। जिस मनुष्य ने विषयों की क्षण-भंगुरता का अनुभव नहीं किया है, जिस मनुष्य ने वैषयिक सुख की परिणाम-दुःखता को जान नहीं लिया है, जिस मनुष्य ने वैराग्य-वृत्ति की उत्कृष्टता का अनुभव नहीं किया है उस मनुष्य का अधिकार अभी रजस्तमोभूमि का ही है, ऐसा समझना योग्य है। त्रिकाल-दर्शी महर्षियों के विचारानुसार मृदु-वैराग्य, मध्य-वैराग्य और अधिमात्र-वैराग्य की दशाएँ रजःसत्त्व-राज्य की पहिली, दूसरी और तीसरी कोटि की हैं और केवल पर-वैराग्य की अवस्था सर्वोत्तम और शुद्ध सत्त्व-गुण की है, इसमें सन्देह नहीं। यही संक्षेप से वर्णित वैराग्य का स्वरूप है।

पञ्चम विवेक

सम्पूर्ण-योग की साधन-विधि

सम्यक् पूर्णः सम्पूर्णः ईश्वरः, तेन योगः सम्पूर्ण-योगः ।

अर्थात् अच्छी तरह से पूर्ण परमात्मा है, उस सम्पूर्ण से मिलना ही सम्पूर्ण-योग है । उस सम्पूर्ण से मिलने की सरल साधन-विधि प्रथम बतलाता हूँ । विशेष-विधि का वर्णन इसके आगे होगा ।

सरल-साधन

चित्त की एकाग्रता के पश्चात् जङ्गल में अथवा नदी के किनारे अथवा पर्वतीय स्थान पर अथवा अपने गृह में अपने निश्चित सन्ध्यादि-पूजा के स्थान वाले बन्द कमरे में एकाग्र और शान्त बैठकर अपने चारों ओर के प्राकृतिक पदार्थों पर दृष्टिपात करके अन्य दूरस्थ और दूर लोक-लोकान्तरों का चिन्तन (विचार) करते हुए, समग्र विश्व अर्थात् ब्रह्माण्ड का चित्र अपने मन के सामने चित्रित करते हुए निश्चय करना चाहिए कि "इन पृथिवी, चन्द्र, सूर्य आदि अनन्त लोकों के पदार्थों को गति देने वाला स्वामी कोई शक्तिमान् चेतन है । जैसा कि अपने छोटे से शरीर को चलाने वाला स्वामी मैं आत्मा हूँ वैसे ही वह इस सारे विश्व का चलाने वाला विश्व-पति, विश्वात्मा, अन्तर्यामी परमात्मा है । यह मेरा छोटा सा शरीर इस विश्व (ब्रह्माण्ड) का किञ्चित् अंश है । मैं इससे पृथक् हूँ—सर्वथा पृथक् हूँ । (ऐसा विचार कर अपने शरीर को बाहिर तथा भीतर से ढीला करके) अतः इस शरीर को विश्व के अन्दर छोड़ता हूँ और आत्मा को इस विश्व के स्वामी विश्व-पति, विश्वात्मा के प्रति अर्पित करता

हूँ—अनन्त आत्मा के अन्दर अपने आत्मा को समाविष्ट करता हूँ—तन्मयता से इसके अन्दर निमग्न होता हूँ"। ऐसी भावना और आन्तरिक यत्न का अभ्यास करो। इस अभ्यास में स्वतः ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं का अनुभव होगा। जाग्रत् अवस्था में सर्व काम-सुखों, स्वप्न अवस्था में दिव्य-सुखों, सुषुप्तावस्था में आनन्दमय सुखों और तुरीयावस्था में अमृत-कल्प सुखों को स्वात्मा से प्राप्त करके अन्त में अमृतमय, सच्चिदानन्द-स्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, केवल, निरञ्जन, शान्त, विश्वात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर के अन्दर स्थिर-शान्ति प्राप्त-कर स्वात्मा निमग्न हो जाता है।

उपर्युक्त उपाय ब्रह्मानन्द-प्राप्ति तथा केवल आत्मोद्धार के लिए ही है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए अब आगे विस्तृत साधन का वर्णन किया जा रहा है—

विस्तृत-साधन

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्र-योगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥

(योगतत्त्वोपनिषद् १९)

अनेक प्रकार के योगों में मुख्यतः योग के क्रिया-सिद्धांश चार भागों में विभक्त होते हैं। यथा—

(१) मन्त्र-योग (२) हठ-योग

(३) लय-योग (४) राज-योग

मन्त्र-योग, हठ-योग और लय-योग रूपी साधन के द्वारा धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर चित्त-वृत्ति को नियोजित करके अन्त में राजयोग-रूप साधन द्वारा सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा में अर्थात् उसके गुणों में अपने आत्मा को विलीन किया जाता है। उक्त चार योगों में से अधिकार के विचारा-नुसार मृदु (निर्बल) वैराग्यवान् को मन्त्र-योग प्रथम आता है।

अतः मन्त्र-योग के साधन-विषय में ही प्रथम विचार निम्न प्रकार किया जा रहा है—

(१) मन्त्रयोग अथवा जपयोग

मन्त्रयोग के आचार्य्य महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि मुनि-गण हैं।

मन्त्रयोग का उद्देश्य—

परमात्मा के मुख्य नाम 'ओ३म्' अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली पङ्क्ति का उच्चारण करते-करते, किसी कार्य-विशेष को करते हुए भी, ध्यान में मग्न हो जाना मन्त्र-योग का उद्देश्य है। योगशास्त्र में लिखा है—

मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः।
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः॥

अर्थात् जो मनन करने से त्राण (=रक्षा) करे उसे मन्त्र कहते हैं। जप करते-करते साधक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

सांसारिक विषयों से मन को हटाकर मन्त्र के अर्थ का अनुगमन करता हुआ और उच्चारण में न बहुत शीघ्रता तथा न विलम्ब करता हुआ मध्यम-वृत्ति[1] से जप करे। मन्त्र का

---

१. वाणी के प्रयोग करने में जो समय लगता है वह सबके लिए एक जैसा नहीं होता। कोई एक श्लोक या मन्त्र को शीघ्र पढ़ लेता है जबकि उसे ही दूसरा व्यक्ति अपेक्षया कुछ अधिक समय में पढ़ता है। परन्तु वाणी के प्रयोग के विषय में समय की दृष्टि से शास्त्रकारों ने मुख्यतः तीन भेद माने हैं। किसी ग्रन्थ का अभ्यास करते समय जो शीघ्र पाठ किया जाता है उसे 'द्रुत' पाठ या वृत्ति कहते हैं जबकि वाणी का व्यवहार करते समय मध्यमा वृत्ति प्रयुक्त होती है। पढ़ाते समय विलम्बित वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य का वचन है—

बार-बार आवर्त्तन करने को जप कहते हैं। अतः इस मन्त्र-योग को **जप-योग** भी कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है। यथा—वाचिक, उपांशु और मानस। इन तीन जपों के अतिरिक्त और भी प्रकार बनाए जा सकते हैं जिसके विषय में आगे कहा जायगा। जप परस्पर मिला हुआ मौक्तिक-हार की तरह करे। मन्त्र जपने का स्थान शुद्ध, एकान्त और रमणीय होना चाहिए। मन्त्रयोग जिसका दूसरा नाम जपयोग भी है उसी जपयोग के साधन-विषय का स्पष्टीकरण अब किया जाता है।

जप-योग में दो शब्द हैं— जप और योग। **जपेन योगः जप-योगः** अर्थात् जप-रूप साधन द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलना जप-योग कहाता है। जिस प्रकार कर्मयोग, ज्ञानयोग, उपासनायोग, बुद्धियोग, मनोयोग, चित्तयोग, अहङ्कारयोग, प्राणापानयोग हैं उसी प्रकार जपयोग भी है। जिस-जिस उपाय से चित्त का आत्म-स्वरूप के साथ योग होता है उसको योग ही कहते हैं। उन्हीं में एक जपयोग है।

जीव के बन्ध और मोक्ष की स्थिति उसके मन की चञ्चलता और स्थिरता पर निर्भर करती है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।
चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

मनुष्य का मन ही उसके बन्ध और मोक्ष का वास्तविक कारण है। चित्त के चलाये संसार है और अचल किये मोक्ष है।

अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः प्रयोगार्थे तु मध्यमा।
शिष्याणामुपदेशार्थे वृत्तिरिष्टा विलम्बिता॥

इन तीनों वृत्तियों का अनुपात (Ratio) ९ : १२ : १६ होता है। अर्थात् यदि ग्रन्थाभ्यास करने के लिए द्रुत-वृत्ति से किसी पाठ को ९ मिनट लगते हैं तो प्रयोग के समय वही पाठ मध्यमा वृत्ति से १२ मिनट लेगा जबकि शिष्यों को उतने ही पाठ को विलम्बिता वृत्ति से पढ़ाने में १६ मिनट लगेंगे। यहाँ जप-पाठ में मध्यम-वृत्ति का प्रयोग करने को कहा गया है।

—सम्पादकः

जब मनुष्य का मन आसुरी सम्पत्ति से युक्त होता है तब वह बन्धन का कारण है और जब वही मन दैवी सम्पत्ति से युक्त होता है तब वह मोक्ष का कारण है[1]। पूर्व वासना-बल से चित्त चञ्चल होता है और वह चित्त आत्म-स्वरूप में इस विचित्र संसार को भासित करता है। यह चञ्चल चित्त ही संसार बनता है और द्रष्टा (जीवात्मा) उस दृश्य (जगत्) पर मोहित हो निज-स्वरूप भूल जाता है। तभी दुःखों को भोगता रहता है[2]। परन्तु जब चित्त आत्म-स्वरूप में स्थिर होकर निरुद्ध होता है तब उसे ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है और वह कृतार्थ होता है[3]। योग-साधन के जितने भी उपाय हैं उनमें प्रधान हेतु चित्त की स्थिरता ही है। वेदादि शास्त्रों में चित्त-स्थैर्य के अनेक उपाय बताए गए हैं और

---

१. भगवद्गीता १६, ५ :

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥

वहीं दैवी सम्पदा का स्वरूप—

निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ध्यान-योग में व्यवस्थित रहना, सात्त्विक दान, इन्द्रिय-दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध का न होना, कर्मफल का त्याग, मन की शान्ति, निन्दा-चुगुली का न होना, दया, लोलुपता का अभाव, कोमलता, लज्जा, चपलता का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, द्रोह का अभाव, निरभिमान—ये गुण दैवी सम्पदा को बताते हैं।

(गीता १६, १-३)

इसके विपरीत आसुरी सम्पदा का स्वरूप— पाखण्ड, घमण्ड, अपने में पूज्यता का भाव, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान ये आसुरी सम्पदा के लक्षण हैं। (गीता १६, ४)

इस आसुरी सम्पदा से अभिभूत पुरुष की आत्मा को तमोगुण-रूपी नरक में डालकर उसे नष्ट करने वाले तीन दुर्गुण हैं— काम, क्रोध और लोभ। जब इन तीनों दुर्गुणों से छुटकारा पाता है तभी कल्याण को प्राप्त होता है। (गीता १६, २१;२२) —सम्पादकः

२. योगसूत्र १, ४ : वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।

३. योगसूत्र १,३ : तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

उनके अनुसार अनुभवी महात्माओं ने अनेक साधन निर्माण किये हैं। जप-योग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभव-सिद्ध साधन है।

वैदिक युग में जप-यज्ञ का स्वरूप 'स्वाध्याय' था। तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली के ११वें अनुवाक के मन्त्र १ में लिखा है कि **'स्वाध्यायान्मा प्र मदः'** अर्थात् स्वाध्याय के विषय में प्रमाद न करो। स्वाध्याय का अर्थ है वेद का अध्ययन। आचार्य से वेदाध्ययन करके पीछे पारायण (सम्पूर्ण-रूप से पाठ करना=वेदमन्त्रों का जप करना) मुख्य तप था। बहुत काल तक ऐसा ही था। पीछे शाखा-प्रशाखाओं का बहुत विस्तार होने से अपनी शाखा का अध्ययन ही 'स्वाध्याय' कहा जाने लगा। तथापि स्वाध्याय-रूप जप-तप चलता ही रहा। इस विषय के पृथक् ग्रन्थ थे। महर्षि शौनक का **'ऋग्विधान'** ऐसा ही ग्रन्थ है। रामायण-काल में भी स्वाध्याय की यह परिपाटी थी। **'तपः-स्वाध्याय-निरतम्'** यह वचन वाल्मीकीय रामायण के आरम्भ में ही आया है। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र वनवास करते हुए यजुर्वेद का स्वाध्याय करते थे, इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत के समय में भी यही परिपाटी थी। पर यहीं से आगे स्वाध्याय-रूप जप-तप उत्तरोत्तर घटता दिखाई देता है। इसके पश्चात् बड़ा परिवर्तन हुआ है। यज्ञ-यागादि उठ गए, भक्ति-मार्ग बढ़ा और ऋषि-मुनियों को 'तीर्थ' न मानकर उनके स्थान पर नदी-तीर्थ-रूप क्षेत्रों की कल्पना हो गई और चेतन देवों—माता-पिता, विद्वानों—की पूजा के स्थान में कल्पित देव-मन्दिरों की पूजा और उत्सवादि बढ़ने लगे। वैदिक मन्त्र पिछड़ गये, पौराणिक मन्त्र-तन्त्र आगे बढ़े—देशभर में इन्हीं का प्रचार हुआ। साध्य तो वही रहा जो पहले था, पर बाह्य-साधन बदल गए। अब इस समय में वैदिक देवताओं, यज्ञों और वेद-मन्त्रों के स्थान में पौराणिक देवता, अवतार, देव-प्रतिमा, देवालय, तीर्थ-क्षेत्र और उनके उत्सव, गीता सहस्र-नामादिकों के पाठ, पौराणिक मन्त्रों के जप और पूर्वज महात्माओं

के नाम-स्मरण ही प्रतिष्ठित हैं। यह केवल बाह्य-रूप में भेद है, साध्य तो सदा से एक ही चला आता है।

भगवान् मनु जप-यज्ञ का माहात्म्य बतलाते हैं—

विधि-यज्ञाज्जप-यज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाक-यज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ-समन्विताः।
सर्वे ते जप-यज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनु० २, ८५; ८६)

अर्थ— दर्शपौर्णमास-रूप कर्म-यज्ञों की अपेक्षा जप-यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है और वही यदि दूसरों के श्रवण में न आवे ऐसा उपांशु-जप सौगुना और जिह्वा के न हिलने से मानस-जप सहस्र-गुना श्रेष्ठ है॥ कर्म-यज्ञ (दर्श-पौर्णमास) के सहित जो चार पाक-यज्ञ (वैश्वदेव, बलि-कर्म, नित्य-श्राद्ध और अतिथि-भोजन) हैं— वे जप-यज्ञ के सोलहवें भाग को भी नहीं पाते अर्थात् जप-यज्ञ सबसे श्रेष्ठ है।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्याद् मन्त्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनु० २, ८७)

ब्राह्मण जप करने ही से सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष-प्राप्त होने के योग्य होता है) और वह अन्य कुछ (याग आदि) करे अथवा न करे वह 'मैत्र' (अर्थात् सर्वप्रिय) कहा जाता है। इसमें संशय नहीं।

जप-योग का मन्त्र : प्रणव और गायत्री

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग-सूत्रों में मन्त्र-सिद्धि मानी है[1]

---

१. किसी सामर्थ्य अथवा ऐश्वर्य की प्राप्ति को 'सिद्धि' कहते हैं। पतञ्जलि मुनि ने योगशास्त्र में सिद्धियों के पाँच प्रकार बताए है क्योंकि इनकी प्राप्ति में पांच प्रकार निमित्त होते हैं। वे सिद्धियाँ इस प्रकार हैं—

और यह कहा है कि प्रणव (=ओ३म्) के जप से परमात्मा का प्रकाश होता है। यथा—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

(योगसूत्र १, २७; २८)

'ओ३म्' यह ईश्वर का मुख्य नाम है। ओ३म् का जप करते हुए परम-प्रेम से ईश्वर के चिन्तन का नाम **'प्रणिधान'** है, इसी को भक्ति-विशेष तथा उपासना भी कहते हैं।

इसके विषय में भाष्यकार वेदव्यास इस प्रकार कथन करते हैं कि—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(योगसूत्र १, २८; पर व्यास-भाष्य)

अर्थ— स्वाध्याय=ओंकार-जप के अनन्तर योग अर्थात् समाधि का अभ्यास करे और समाधि के अनन्तर ओंकार का जप करे क्योंकि ओंकार के जप तथा समाधि के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश होता है।

---

(१) **जन्म-जात सिद्धि**— यथा पक्षी की आकाश में गति की सिद्धि जन्म-सिद्ध है। उसी प्रकार महर्षि कपिल आदि को ज्ञान की सिद्धि भी जन्म-सिद्ध थी।

(२) **औषधी से शरीर-सिद्धि**— यथा पारद आदि की भस्म के उपयोग-विशेष से शरीर के सामर्थ्य-विशेष की प्राप्ति होती है।

(३) **मन्त्र-विशेष के जप से सिद्धि**— योग-सूत्रकार का कथन है कि स्वाध्याय से इष्ट-देव का साक्षात्कार होता है—

स्वाध्यायादिष्ट-देवता-संप्रयोगः (२, ४४)।

(४) **तपश्चरण से भी सिद्धि**— यथा योगसूत्र २, ४३ (**कायेन्द्रिय-सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**) का कथन है कि तप के सिद्ध होने पर पाप-रूप अशुद्धि नष्ट हो जाती है। उसके विनाश हो जाने से शरीर और इन्द्रिय की सिद्धि प्राप्त होती है।

भाव यह है कि जब योगी वैराग्य-सहित प्रणवोपासना=प्रणिधान करता है तब ईश्वर प्रसन्न होकर सङ्कल्प-मात्र से ही योगी (=उपासक) के सङ्कल्पों को पूर्ण कर देता है क्योंकि ईश्वर सत्य-सङ्कल्प और सर्वशक्ति-सम्पन्न है। वह प्रणिधान से प्रसन्न होकर जब कृपा करता है तब उसकी कृपा से योगी का चित्त शान्त होकर समाधि में स्थित हो जाता है और समाधि का फल उसे ईश्वर-कृपा से प्राप्त होता है।

प्रश्न— ईश्वर-प्रणिधान का फल क्या है?

उत्तर— ततः प्रत्यक्-चेतनाऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग-सूत्र १, २९)

पदार्थ— (ततः) ईश्वर-प्रणिधान से (प्रत्यक्-चेतनाऽधिगमः) पुरुष का साक्षात्कार (च) और (अन्तरायाभावः) उसके साधन में होने वाले विघ्नों की निवृत्ति (अपि) भी होती है।

भाष्य— ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् प्रणवोपासना से योगी (उपासक) को केवल समाधि का लाभ ही नहीं होता किन्तु योग के प्रतिबन्धक सर्व-विघ्नों की निवृत्ति होकर प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों से भिन्न परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार भी होता है।

यहाँ क्रम इस प्रकार जानना चाहिए कि प्रथम प्रणिधान होता है उसके अनन्तर योग के विघ्नों की निवृत्ति होकर सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है और फिर प्रकृति-पुरुष के विवेक का उदय होता है, तत्पश्चात् वैराग्य होता है और फिर इसके

---

(५) पाँचवीं सिद्धि वह है जो समाधि सिद्ध होने पर उससे प्राप्त होती है। योग-दर्शन के तृतीय-पाद में वर्णित सभी सिद्धियाँ समाधि-जन्य सिद्धियाँ ही हैं।

तात्पर्य यह है कि मन्त्र, तप एवं समाधि से चित्त में धर्म-विशेष का आविर्भाव होता है उससे चित्त के मलावरण के हट जाने के कारण सामर्थ्य-विशेष-स्वरूप विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

(योगसूत्र ४,३ : निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु, क्षेत्रिकवत्)।

—सम्पादकः

अनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि होती है, तत्पश्चात् परमात्मा का प्रकाश और उसके प्रकाश के अनन्तर कैवल्य (=मोक्ष) का लाभ होता है।

स्वाध्याय का फल देखिए, भगवान् मनु क्या कहते हैं—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥
(मनु० २, १०७)

जो पुरुष एक वर्ष पर्यन्त विधि-युक्त नियम से पवित्र होकर स्वाध्याय पढ़ता है, उसके लिए वह (स्वाध्याय) दूध, दधि, घृत, मधु को वर्षाता है[1]।

ओङ्कार के उच्चारण करने की विधि—

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति॥
(मनु० २, ७५)

पूर्वाग्र दर्भों को बिछाकर उस पर बैठे और पवित्र-दर्भों से मार्जन कर पवित्र होकर, तीन बार प्राणायामों से पवित्र होवे, तभी ओङ्कार के उच्चारण करने योग्य होता है।

ओङ्कार और व्याहृति-पूर्वक गायत्री[2] के तीन पादों के जप

---

१. मनु का यह कथन ऋग्वेद ९,६७,३२ के निम्न मन्त्र पर आधारित है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥

अर्थात् पवित्रता प्रदान करने वाली ऋचाओं का जो अध्ययन करता है उसे सर्वज्ञ परमात्मा ऋषियों द्वारा प्राप्तव्य ज्ञान-रस तथा दुग्ध, घृत, मधु उदक प्राप्त कराता है। —सम्पादकः

२. गायत्री-मन्त्र इस प्रकार है—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ (मा० यजु० ३, ३५)

का फल और उसके त्याग की निन्दा की गई है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥
(मनु० २, ७६)

ब्रह्मा ने तीनों वेदों से अकार, उकार, मकार और 'भूर्भुवः स्वः' ये तीन व्याहृतियाँ सार-रूप में ग्रहण की हैं ।

यह मन्त्र गायत्री छन्दः में है जिसमें ८-८ अक्षरों (Syllables) के तीन पाद होते हैं । इस छन्दः के आधार पर इसे 'गायत्री' कहते है । मन्त्र में स्तुति का विषय 'देवता' कहाता है । इस मन्त्र का देवता 'सविता' है । अतः इस गायत्री-मन्त्र को 'सावित्री' कहते हैं । गुरु (आचार्य) अपने शिष्य (ब्रह्मचारी) को वेदारम्भ कराने से पूर्व व्रत-बन्ध (उपनयन) के समय इस मन्त्र को ग्रहण कराता है । अतः इसे 'गुरु-मन्त्र' भी कहा जाता है ।

माध्यन्दिन यजुर्वेद ३६, ३ में उक्त गायत्री मन्त्र के पहले तीन महा-व्याहृतियों —भूर्भुवः स्वः— का प्रयोग हुआ है । उसी वेद के ४०, १७ में प्रयुक्त 'ओ३म्' इस नाम का प्रयोग भी सबके आरम्भ में प्रयुक्त होता है । इस प्रकार ओंकार, महाव्याहृतियों और त्रिपदा गायत्री का सम्मिलित पाठ ('ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवि०) जप आदि में किया जाता है ।
(द्र० मनु० २, ७६; ७७)

इस विषय में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि 'जप' का मन्त्र प्रणव (=ओ३म्) हो या गायत्री मन्त्र हो, उसका मानसिक जप मन्त्र के अर्थ (ईश्वर) की भावना (विचार) के साथ करना चाहिए ।

इसलिए 'ओ३म्' का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । इसी प्रकार गायत्री-मन्त्र का अर्थ भी बहुत अच्छी तरह आना आवश्यक है । केवल शब्द-मात्र से जप का पूर्ण लाभ नहीं होगा । अतः प्रणव और गायत्री मन्त्र का अर्थ यहाँ दिया जा रहा है—

'ओ३म्'— यह परमात्मा का ही नाम है । यद्यपि परमात्मा को अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि अनेक अन्य नामों से भी अभिहित किया जाता है परन्तु ये अग्नि आदि नाम अन्य पदार्थों के भी वाचक हैं परन्तु 'ओ३म्' नाम तो केवल परमात्मा का ही वाचक है । योगसूत्रों के भाष्यकार महर्षि वेदव्यास के अनुसार परमात्मा का अपने 'ओ३म्' नाम के साथ वैसा

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं-पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥

सहस्त्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥

ही प्रेम-सम्बन्ध है जैसा सम्बन्ध पिता का अपने पुत्र के साथ। अतः भक्त उपासक इसी परमात्मा के पुत्र-तुल्य प्रिय नाम का जप करते हैं। किञ्च, इस नाम में परमात्मा के अन्य सभी नाम समाविष्ट हैं। क्योंकि अ, उ और म् इन तीन वर्णों के मेल से 'ओ३म्' नाम हुआ है। उसमें 'अ' से विराट्, अग्नि, विश्व आदि नामों का, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु तैजस आदि नामों का और मकार से ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञ आदि नामों का ग्रहण होता है। अतः ऋषि-मुनि आदि इसी नाम से जप करते हैं।

आगे तीन महाव्याहृतियों का अर्थ यह है—

'भूः' प्राण का वाचक है। हमारे प्राण हमें सबसे प्यारे होते हैं परन्तु परमात्मा हमारे प्राणों का भी प्राण है। अपने प्राणों से भी प्यारा है। अतः उपासक भक्त परमात्मा और उसकी आज्ञा के पालने के लिए अपने प्राणों को तुच्छ समझता है। 'भूः' नाम में यही भाव निहित है। मुक्त जनों, मुक्ति के इच्छुक भक्तों तथा अपने सेवक धर्मात्माओं के दुःखों का विनाशक होने से परमात्मा को 'भुवः' कहा है। सांसारिक और पारमार्थिक सुख का दाता होने से उसे 'स्वः' कहा गया है।

आगे गायत्री मन्त्र का अर्थ—

(देवस्य) ज्ञान-रूपी प्रकाश तथा मुक्ति-सुख को देने वाले (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक एवं प्रेरक परमात्मा के (तत्) उस सर्वप्रसिद्ध (वरेण्यम्) सदा सर्वथा सबके वरण-योग्य (भर्गः) अविद्या आदि मलों का भर्जन कर देने वाले तेजःस्वरूप का हम (धीमहि) प्रेम-भक्ति से ध्यान करते हैं ताकि वह (नः धियः) हमारी बुद्धियों को (प्रचोदयात्) शुभ कर्मों में प्रेरित करता रहे। —सम्पादकः

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्म-क्षत्रिय-विड्-योनिर्गर्हणां याति साधुषु ।।

ओङ्कार-पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ।।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायु-भूतः ख-मूर्तिमान् ।।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते ।।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजति-क्रियाः ।
अक्षरं दुष्कर-ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ।।

(मनु० २, ७७–८४)

अर्थ— प्रजापति (=ब्रह्मा) ने तीन वेदों से "तत्सवितुः०" इस सावित्री ऋचा के एक-एक पाद को दुहा है। इस (ओङ्कार रूप) अक्षर और त्रिपाद-युक्त सावित्री को, तीनों व्याहृतियों को पूर्व में लगाकर, वेद का जानने वाला दोनों सन्ध्याओं में जपता हुआ विप्र वेद पढ़ने के फल को प्राप्त होता है और इस त्रिक (अर्थात् प्रणव, व्याहृति, त्रिपाद-युक्त गायत्री) को सहस्रवार ग्राम के बाहर (नदी-तीर व अरण्य में) एक मास जपने से द्विज महापाप से भी ऐसे छूट जाता है जैसे सर्प कञ्चली से अलग हो जाता है। यह एक प्रायश्चित्त जानो। इस गायत्री के जप से रहित और सायं-प्रातः स्व-क्रिया (अग्नि-होत्र आदि) से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुलों में उत्पन्न पुरुष सज्जनों में निन्दा को पाता है। ओङ्कार से युक्त तीन अविनाशिनी महाव्याहृतिओं और त्रिपदा गायत्री को वेद का मुख जानना (वेद के अध्ययन के पूर्व में पढ़ी जाती है और ब्रह्म =परमात्मा की प्राप्ति का हेतु है) । जो पुरुष प्रतिदिन आलस्य-रहित होकर तीन वर्ष पर्यन्त ओ३म्, व्याहृति और गायत्री का जप करता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायुवत् (स्वतन्त्रचारी होकर) ख-मूर्तिमान्

(=शरीर-बन्धन से रहित) हो जाता है। 'ओ३म्' यह एक अक्षर परब्रह्म का वाचक है और प्राणायाम बड़ा तप है और विहित क्रिया (यज्ञ, याग आदि) नाशवान् हैं, परन्तु कठिन से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म का प्रतिपादक 'ओ३म्' अक्षर अविनाशी है ॥

प्रणव के बाद बड़े महत्त्व का मन्त्र गायत्री है। यह वैदिक मन्त्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह मन्त्र सब सिद्धियों का देने वाला है और द्विजाति-मात्र को इसका अधिकार प्राप्त है।

यह बात स्मरण रहे कि मन्त्र जप-यज्ञ है और वह ईश्वर की विभूति है। यज्ञ का अधिकार दीक्षा-विधि से ही प्राप्त होता है, यह वैदिक नियम है। ब्राह्मण-ग्रन्थ में इस विषय के वचन हैं। इसलिए किसी अधिकारी पुरुष से ही मन्त्र की दीक्षा लेकर तब जप करना चाहिए। श्रद्धालु साधक को ऐसा ही करना चाहिए। गायत्री-मन्त्र दीक्षा-विधि से ही लिया जाता है और विधि को व्रत-बन्ध कहते हैं। जिसने स्वयं दीक्षा-विधि से मन्त्र लिया हो और जपा हो उससे मन्त्र लेने में कोई हर्ज नहीं है। दीक्षा-विधि के लिए शुभ समय, शुभ स्थान और चित्त में उत्साह होने की बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र ले चुकने पर फिर एक दिन भी मन्त्र-जाप के विना खाली न जाय।

मन्त्र की जप-विधि

गुरु से दीक्षा लेकर साधन-मन्त्र का जप आरम्भ करे। जिनके लिए सुभीता हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थान में, नदी-किनारे अथवा जङ्गल में जप करें। जिनके ऐसा सुभीता न हो वे अपने घर में ही जप के लिए कोई रम्य स्थान बना लें। इस स्थान में साधु-महात्माओं के चित्र रखें। कम्बल के ऊपर कुशासन बिछाकर, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके कन्धे

पर उपवस्त्र धारण किये आसन पर बैठें। सन्ध्या (नित्य-कर्म) कर लें। आसन सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन में से कोई भी हो सकता है। चतुर्विध प्राणायाम तीन बार करें। तदनन्तर हाथ में माला लेके जप आरम्भ करें। मेरु-दण्ड को सीधा रखें। अपनी सुविधा देखकर जप-संख्या निश्चित कर लें और रोज उतनी संख्या पूरी करें और वह जप करके परमात्मा को अर्पण करें।

इस क्रम से श्रद्धापूर्वक जो कोई साधना करेगा तो कृतार्थ हो जायगा। उसका चित्त आनन्द से भर जायगा। ईश्वर के गुणों में चिर विश्रान्ति प्राप्त होगी। सम्पूर्ण तत्व-ज्ञान स्फुरित होने लगेगा और शक्ति भी प्राप्त होगी। इसी प्रकार सायंकाल भी करें। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने नित्य-कर्म (सन्ध्या) के मन्त्रों में गायत्री-मन्त्र के पश्चात् समर्पण करने की विधि लिखी है[1]—

"हे ईश्वर दयानिधे! भवत्-कृपयाऽनेन जपोपासनादि-कर्मणा धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः"।

जप के भेद

जप अनेक प्रकार के हैं। उन सबको समझ लें तो एक जप-योग में ही सब साधन आ जाते हैं। परमार्थ-साधन के कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग ये चार बड़े विभाग हैं। जपयोग में इन चारों का अन्तर्भाव हो जाता है। जप के कुछ मुख्य प्रकार ये हैं—

(१) नित्य-जप। (२) नैमित्तिक-जप।
(३) काम्य-जप। (४) निषिद्ध-जप।
(५) प्रायश्चित्त-जप। (६) अचल-जप।
(७) चल-जप। (८) वाचिक-जप।
(९) उपांशु-जप। (१०) भ्रमर-जप।
(११) मानस-जप। (१२) अखण्ड-जप।
(१३) अजपा-जप। (१४) प्रदक्षिणा-जप।

१. सन्ध्योपासन-विधिः ('पञ्चमहायज्ञविधि' के अन्तर्गत)।

(१) नित्य-जप

प्रातःसायं गुरुमन्त्र (=गायत्री-मन्त्र)[१] का जो नित्य-नियमित जप किया जाता है वह नित्य-जप है। वह जप योगी को नित्य ही विकट से विकट अवस्था में भी करना चाहिए। उससे नित्य दोष दूर होते हैं। जप का अभ्यास बढ़ता है, आनन्द बढ़ता जाता है। ईश्वर की समीपता बढ़ती जाती है। वाचा शुद्ध होती है और धर्म-विचार स्फुरने लगते हैं। पाप, अधर्म से घृणा होने लगती है। ऐसे अनेक लाभ हैं और जप-संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती है ईश्वरी-कृपा अनुभूत होने लगती है और अपनी निष्ठा भी दृढ़ होती जाती है।

(२) नैमित्तिक-जप

किसी निमित्त से जो जप होता है वह नैमित्तिक जप है। सप्ताह में कोई दिन तथा एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्व के दिनों में एकान्त स्थान में बैठकर अधिक अतिरिक्त जप करना चाहिए। इससे पुण्य-संग्रह बढ़ता है और पाप की न्यूनता होकर सत्त्व-गुण की वृद्धि होती है और ज्ञान सुलभ होता है। यह जप रात में एकान्त में करना उत्तम है।

(३) काम्य-जप

किसी कामना की सिद्धि के लिए जो जप किया जाता है उसे काम्य-जप कहते हैं। परन्तु मोक्ष चाहने वाले के काम का नहीं। क्योंकि मोक्षार्थी के लिए सांसारिक कामनाओं का परित्याग करना आवश्यक है।

(४) निषिद्ध-जप

मनमाने ढंग से अविधि-पूर्वक अनियम जप जपने को निषिद्ध-जप कहते हैं। निषिद्ध कर्म की तरह यह भी बहुत बुरा है।

---

१. देखिए पृ० ११७, टि० २।

(५) प्रायश्चित्त-जप

अपने हाथ से अनजान में कोई दोष या प्रमाद हो जाय तो उस दुरित-नाश के लिए जो जप किया जाता है वह प्रायश्चित्त-जप है। नित्य-जप के साथ यह जप भी हुआ करे। अल्प और अधिक के लिए अधिक जप करना चाहिए। नित्य-जप का नियम पूर्ण करके इसे चलाना कठिन हो तो सप्ताह में एक ही दिन सही, यह काम करना चाहिए। इससे पवित्रता बढ़ेगी और मन आनन्द से झूमने लगेगा। उपवास अवस्था में यह जप और भी अच्छा होगा।

(६) अचल-जप

स्थायी (गति-हीन) जप करने को अचल जप कहते हैं। इस जप के लिए व्यावहारिक और मानसिक स्वास्थ्य होना चाहिए। इस जप से अपने अन्दर जो गुप्त शक्तियां हैं वे जाग कर विकसित होती हैं और परोपकार में उनका उपयोग करते बनता है।

(७) चल-जप

यह जप आते-जाते, उठते-बैठते, करते-धरते, देते-लेते, मुख से अन्न खाते, जल-पान करते, सोते-जागते, भोग भोगते, सदा-सर्वदा लोक-लाज छोड़कर करना चाहिए। यह जप कोई भी कर सकता है। इसमें कोई बन्धन, नियम या प्रतिबन्ध नहीं है। इससे वाचा शुद्ध होती और वाक्-शक्ति प्राप्त होती है। पर इस जप को करने वाला कभी मिथ्या-भाषण न करे। निन्दा, कठोर भाषण, जली-कटी सुनाना, अधिक बोलना इन दोषों से बराबर बचता रहे। इससे बड़ी शक्ति सञ्चित होती है। इस जप से समय सार्थक होता है, मन प्रसन्न रहता है, सङ्कट, कष्ट, दुःख, आघात, उत्पात, अपघात आदि का मन पर कोई असर नहीं होता। जप करने वाला सदा सुरक्षित रहता है। सुख-पूर्वक संसार-यात्रा पूरी करके अनायास परमार्थ को प्राप्त होता है। उसकी उत्तम गति होती है, उसके सब कर्म यज्ञमय होते हैं, इस

कारण वह कर्म्म-बन्धन से छूट जाता है। मन निर्विषय हो जाता है। ईश-सान्निध्य बढ़ता और साधक निर्भय होता है। उसका योग-क्षेम परमात्मा स्वीकार करते हैं। वह मन से ईश्वर के समीप और तन से संसार में रहता है। जप करते हुए होंठ भी न हिलें। सब काम चुपचाप होना चाहिए, किसी को कुछ मालूम न हो।

(८) वाचिक-जप

जिस जप का इतना जोर से उच्चारण होता है कि दूसरे भी सुन सकें उसे वाचिक-जप कहते हैं। बहुतों के विचार में यह जप निम्न कोटि का है और इससे कुछ लाभ नहीं है। परन्तु विचार और अनुभव से यह कहा जा सकता है कि यह जप भी अच्छा है।

इसकी विधि यह है— द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा वाचिक-जप दस गुना श्रेष्ठ है, यह स्वयं मनु महाराज ने कहा है[1]। जप-योगी को पहले यही जप सुगम होता है। आगे का जप क्रम-साध्य और अभ्यास-साध्य है। इस जप से यौगिक लाभ होते हैं। इस जप से वाक्-सिद्धि तो होती ही है उसके शब्दों का भी बड़ा महत्त्व होता है। वे शब्द कभी व्यर्थ नहीं होते। अन्य लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। जितना जप हुआ रहता है उसी हिसाब से यह अनुभव भी प्राप्त होता है। एक वाक्-शक्ति भी सिद्ध हो जाय तो उससे बहुत से काम वाणी से ही सिद्ध होते हैं। वाक्-शक्ति संसार की समूची शक्ति का तीसरा हिस्सा है[2]। यह जप संसार और परमार्थ दोनों के लिए उपयोगी है।

(९) उपांशु-जप

वाचिक जप के बाद का उपांशु-जप है। इस जप में होठ हिलते हैं और मुँह में ही उच्चारण होता है, स्वयं ही सुन सकते

---

१. मनु० २, ८५।

२. सारे कर्म या तो मन से होते हैं, या वाणी से, या फिर शरीर से। अतः यहाँ इस सारे कर्म-समूह में वाणी से किया गया कर्म कुल का एक-तिहाई भाग कहा गया है। —सम्पादकः

हैं, बाहर और किसी को सुनाई नहीं देता। विधि-यज्ञ की अपेक्षा, मनु महाराज कहते हैं कि, यह जप सौ गुना श्रेष्ठ है (मनु० २, ८५)। इससे मन की शान्ति प्राप्त होने लगती है, एकाग्रता आरम्भ होती है, वृत्तियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और वाचिक जप के जो-जो लाभ होते हैं वे सब इसमें होते हैं। इससे अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में उष्णता बढ़ती हुई प्रतीत होती है। यही तप का तेज है। इस जप में दृष्टि अर्धोन्मीलित रहती है। एक नशा-सा आता है और मनोवृत्तियाँ कुण्ठित सी होती हैं, यही 'मूर्च्छना' है। इसके द्वारा साधक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करता है। वाणी के सहज गुण प्रकट होते हैं। मन्त्र का प्रत्येक उच्चारण मस्तक पर कुछ असर करता सा मालूम होता है। भाल प्रदेश और ललाट में वेदनाएँ अनुभूत होती हैं। अभ्यास से पीछे स्थिरता आती है।

(१०) भ्रमर-जप

भ्रमर के गुञ्जा-रव की तरह गुनगुनाते हुए जो जप होता है वह भ्रमर-जप कहाता है। किसी को यह जप करते हुए को देखने-सुनने से इसका अभ्यास जल्दी हो जाता है। इसमें होठ नहीं हिलते, जीभ हिलाने का भी कोई विशेष कारण नहीं। आँखें झपी रखनी पड़ती हैं। भ्रू-मध्य की ओर यह गुञ्जा-रव होता हुआ अनुभूत होता है। यह जप बड़े ही महत्त्व का है। इसमें प्राण सूक्ष्म होता जाता है और स्वाभाविक कुम्भक होने लगता है। प्राण-गति धीर-धीमी होती है, पूरक जल्दी होता है और रेचक धीरे-धीरे होने लगता है। पूरक करने पर गुञ्जा-रव आरम्भ होता है और अभ्यास से एक ही पूरक में अनेक बार मन्त्रावृत्ति हो जाती है। इसमें मन्त्रोच्चार नहीं करना पड़ता। वंशी के बजने के समान प्राण-वायु की सहायता से ध्यान-पूर्वक मन्त्रावृत्ति करनी होती है। इस जप को करते हुए प्राण-वायु से ह्रस्व-दीर्घ कम्पन हुआ करते हैं और आधार-चक्र (कण्ठ) से लेकर

आज्ञा-चक्र (भृकुटी) तक उनका कार्य अल्पाधिक रूप से क्रमशः होने लगता है। ये सब चक्र इससे जाग उठते हैं। शरीर पुलकित होता है। नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु और भ्रू-मध्य में उत्तरोत्तर अधिकाधिक कार्य होने लगता है। सबसे अधिक परिणाम भ्रू-मध्य भाग में होता है। वहाँ के चक्र के भेदन में इससे बड़ी सहायता मिलती है। मस्तिष्क में भारीपन नहीं रहता। उसकी सब शक्तियाँ जाग उठती हैं। स्मरण-शक्ति बढ़ती है। पुरानी स्मृति जागती है। मस्तक, भाल-प्रदेश और ललाट में उष्णता बहुत बढ़ती है। तैजस परमाणु अधिक तेजस्वी होते हैं और साधक को आन्तरिक प्रकाश मिलता है। बुद्धि का बल बढ़ता है। मनोवृत्तियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं। नाग-स्वर बजाने से साँप की जो हालत होती है वही गुञ्जा-रव से मनोवृत्तियों की होती है। उस नाद में मन स्वभाव से ही लीन हो जाता है और तब **नादानुसन्धान**[1] का जो बड़ा काम है वह सुलभ हो जाता है।

---

१. यह कहा जा चुका है कि चर-अचर रूप सारा जगत् चित्त की पञ्च-विध वृत्तियों में बन्धा हुआ है (द्र० पृ० ९२-९६)। योगाभ्यास और वैराग्य के द्वारा इन वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने को ही मनोलय=लय-योग कहा जाता है। चित्त-वृत्तियों के अभाव हो जाने पर चित्त का लय कह दिया जाता है। इस चित्त-लय के अनेक उपाय योगियों द्वारा ढूंढे गए हैं। इन उपायों में से एक उपाय नादानुसन्धान अथवा नादोपासन अथवा नादानुचिन्तन है। सभी लय-योगों में इसी को मुख्य माना गया है क्योंकि अतत्त्वज्ञानियों को भी यह सुकर है। नाद (Sound) दो प्रकार का है— (१) आहत (Struck) जो दो द्रव्यों के परस्पर आघात से अथवा किसी द्रव्य के विभाग से उत्पन्न होता है। यथा क्रमशः नगाड़े का शब्द और बांस के फटने से उत्पन्न शब्द। यह बाह्य आकाश की वस्तु है। (२) दूसरा नाद अनाहत है जो शरीर के अन्तराकाश में किसी आघात के बिना ही सतत रूप से पाया जाता है। अपने कानों को अङ्गुलियों आदि के द्वारा बन्द करके कोई भी इस नाद को सुन सकता है। इसे ही अनाहत (=अनहद) नाद कहा जाता है। इसी अनाहत नाद पर विशेष विधि के द्वारा मन को एकाग्र करते हैं। इसके अभ्यास से क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम नाद पर

चित्त को अति-शीघ्र एकाग्र करने का इससे श्रेष्ठ उपाय कोई नहीं है। इस जप से साधक को आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है और उसके द्वारा वह स्व-पर-हित का साधन कर सकता है। यह जप ससार और परमार्थ दोनों में काम देता है। शान्त समय में यह जप करना चाहिए। इस जप से यौगिक तन्द्रा बढ़ती जाती है और उससे योग-निद्रा आती है। इस जप के सिद्ध होने से आन्तरिक तेज बहुत बढ़ जाता है और दिव्य दर्शन होने लगते हैं, दिव्य जगत् प्रत्यक्ष होने लगता है और तप का तेज प्राप्त होता है।

(११) मानस-जप

यह जप तो जप का प्राण ही है। इससे साधक का मन आनन्दमय हो जाता है। इसमें मन्त्र का उच्चारण नहीं करना होता। मन से ही मन्त्रावृत्ति करनी होती है। नेत्र बन्द रहते हैं। मन्त्रार्थ का चिन्तन ही इसमें मुख्य है। श्री मनु महाराज के अनुसार विधि-यज्ञ की अपेक्षा यह हजार गुना श्रेष्ठ है (मनु० २, ८५)। **नादानुसन्धान** के साथ-साथ यह जप करने से बहुत अधिक उपकारी होता है। केवल नादानुसन्धान या केवल जप की

मन को एकाग्र करते-करते अन्त में मनोलय हो जाता है। उस अवस्था में पाँचों वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से योग सिद्ध होता है। इसे ही नादानुसन्धान कहते हैं। इसका विशेष विवरण हठयोग प्रदीपिका (४, ६५–१०२) में द्रष्टव्य है।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह नादानुसन्धान राजयोग के अन्तर्गत है जिसका एकमात्र लक्ष्य सभी प्रकार की वृत्तियों को निरुद्ध करना है। इस राजयोग की सिद्धि के लिए अन्य योग—हठयोग, मन्त्रयोग और लययोग—साधन-रूप ही हैं। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि यह अनाहत नाद सुषुम्ना-नामक नाड़ी से सुनने में आता है। अतः नाड़ियों को नाड़ी-शोधन प्राणायामों से शुद्ध कर लेना आवश्यक है, अन्यथा वह नादानुसन्धान यथावत् सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः नादानुसन्धान की सिद्धि के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अनुष्ठान पहले करना आवश्यक है। —सम्पादकः

अपेक्षया दोनों का योग अधिक अच्छा है। यह ऐसा साधन है कि अल्पायास से निजानन्द प्राप्त होता है। नाद में बड़ी विचित्र शक्ति है। बाहर का सुमधुर सङ्गीत सुनने से जो आनन्द होता है उसका अनुभव तो सभी को है; पर भीतर के इस सङ्गीत का माधुर्य और आनन्द ऐसा है कि तुरन्त मनोलय होकर प्राण-लय और वासना-क्षय होता है (द्र० ह० प्र० ४, २१-२४)।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(ह० प्र० ४, २९)

श्रोत्रादि इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण-वायु है। प्राण-वायु का स्वामी मनोलय है और मनोलय नाद के आश्रय होता है।

सतत नादानुसन्धान अर्थात् शब्दानुसन्धान करने से मनोलय बन पड़ता है। आसन पर बैठकर, श्वासोच्छ्वास की क्रिया सावकाश करते हुए, अपने कान बन्द करके अन्तर्दृष्टि करने से नाद (शब्द) सुनाई देता है। अभ्यास से बड़े नाद सुनाई देते हैं और उनमें मन रमता है। 'ओ३म्' मन्त्र का अर्थ (ईश्वर)- चिन्तन, नाद का श्रवण और ब्राह्म मुहूर्त में नेत्र बन्द कर प्रकाश का अनुसन्धान ये तीन बातें साधनी पड़ती हैं। इस साधन के सिद्ध होने पर मन आत्मा के स्वरूप में लीन होता है, तब प्राण, नाद और प्रकाश भी लीन हो जाते हैं और अपार आनन्द प्राप्त होता है।

एकाग्र-मन से ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का चिन्तन करते हुए दाहिने कान से अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। भेरी, मृदङ्ग, शङ्ख आदि आहत नाद में ही जब मन रमता है तब 'अनाहत' मधुर-नाद की महिमा क्या बखानी जाय? चित्त जैसे-जैसे विषयों से उपराम होगा वैसे-वैसे यह अनाहत नाद अधिकाधिक

सुनाई देगा। नादाभ्यन्तर ज्योति में जहाँ मन लीन हुआ तहाँ फिर मन सांसारी विषयों में नहीं आता। उसे शीघ्र समाधि प्राप्त होती है।

(१२) अखण्ड-जप

यह जप खासकर त्यागी पुरुषों के लिए है। शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक आहार आदि का समय छोड़कर बाकी सब समय जपमय होना पड़ता है। कितना भी क्यों न किया जाय, सतत-जप से मन अवश्य उचट जाता है। इसलिए इसमें यह विधि है कि जप से जब चित्त उचटे तब थोड़ा समय ओङ्कार के स्वरूप के ध्यान में लगावे, फिर तत्त्व-चिन्तन करे और फिर जप करे। कहा है—

> **जपाच्छ्रान्तः पुनर्ध्यायेद् ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।**
> **जप-ध्यान-परिश्रान्त आत्मानं च विचारयेत्॥**

जप करते-करते जब थक जाय तब ध्यान करे, ध्यान करते-करते थके तब फिर जप करे और जप तथा ध्यान दोनों से थके तब आत्म-तत्त्व का विचार करे।

सतत १२ वर्ष पर्यन्त ऐसा जप हो तब उसे तप कहते हैं।

(१३) अजपा-जप

यह सहज जप है और सावधान रहने वाले से ही बनता है। किसी भी तरह से यह जप किया जा सकता है। इसके लिए माला का कुछ काम नहीं। श्वासोच्छ्वास की क्रिया शरीर में बराबर हो ही रही है, उसी के साथ-साथ ध्यान से 'ओ३म्' की मन्त्रावृत्ति की जा सकती है। अभ्यास से मन्त्रार्थ-भावना दृढ़ हुई रहती ही है सो उसका स्मरण होता है। इस रीति से सहस्रों की संख्या में जप होता है।

(१४) प्रदक्षिणा-जप

मन में ब्रह्म-भावना करके, मन्त्र कहते हुए परिक्रमा करनी होती है। इससे भी सिद्धि प्राप्त होती है— मनोरथ पूर्ण होता है। उपर्युक्त जपों के द्वारा मानसिक व्यायाम होने से शरीर का भी आरोग्य रहता है।

यहाँ तक मन्त्र-जप के कुछ प्रकार, संक्षेप से बताये गए। अब यह देखें कि जप-योग एक **'योग'** कैसे हैं— योग से इसका कैसा साम्य है। योग के यम-नियमादि आठ अङ्ग होते है। ये आठों अङ्ग **'जप'** में आ जाते हैं।

जप-योग और अष्टाङ्ग-योग का समन्वय

(१) **यम**— यह वाह्य इन्द्रियों का निग्रह अर्थात् 'दम' है। जप के लिए आसन पर बैठना, दृष्टि को स्थिर करना यह सब यम ही है।

(२) **नियम**— यह अन्तरिन्द्रियों का निग्रह करना 'शम' ही है। मन को एकाग्र करना इत्यादि से इसका साधन जप में होता है।

(३) **आसन**— स्थिरता से बैठने को तथा सुख-पूर्वक विशिष्ट रूप से बैठने को आसन कहते हैं। जप में सिद्धासन वा पद्मासन आदि लगाना ही पड़ता है।

(४) **प्राणायाम**— विशिष्ट रीति से श्वासोच्छ्वास की क्रिया को वश में करना प्राणायाम है। जप में यह करना ही पड़ता है।

(५) **प्रत्याहार**— शब्द आदि विषयों की ओर मन जाता है, वहाँ से उसे लौटाकर अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है। सो इसमें करना पड़ता है।

(६) **धारणा**— एक ही स्थान में दृष्टि को स्थिर करना धारणा कहाती है। जप में यह आवश्यक है।

(७) **ध्यान**— ध्येय (परमात्मा के गुणों) पर चित्त की एकाग्रता-रूप ध्यान का जप में होना आवश्यक है।

(८) **समाधि**— ध्येय के साथ तदाकारता-रूप समाधि का जप में होना आवश्यक ही है।

तात्पर्य यह है कि अष्टाङ्ग-योग जप में आ जाता है, इसीलिए इसे जप-योग कहते हैं। कर्म, उपासना, ज्ञान और योग के मुख्य-मुख्य अङ्ग जप-योग में हैं, इसलिए यह मुख्य साधन है। वह योग सर्वत्र सबके लिए है। इस समय तो इससे बढ़कर सुलभ साधन नहीं है।

अष्टाङ्ग-योग में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार जो साधन साधक को क्रिया में अति कठिन प्रतीत होते हैं, वे भी प्रत्याहार की सिद्धि के लिए यदि ओ३म् का मानसिक-जप लगातार एक आसन से ९६००० बार किया जावे तो सफलता हो सकती है। इसी प्रकार 'धारणा' के लिए १४४०००, 'ध्यान' के लिए १७२८००० और 'समाधि' के लिए २०७३६००० बार जपने से योगी सफल-मनोरथ हुआ करता है।

जप-योग की मर्यादा यह नहीं है कि इतनी विस्तृत संख्या कोई गिने। किन्तु नियम के साथ १००० बार सार्थक ओ३म् का जप करके देख लिया जाता है कि कितना समय इस जप में लगा और इसी हिसाब से पूरे जप की समाप्ति की अवधि निकाल कर जप आरम्भ करने से पहले भली-भान्ति समझ लिया जाता है कि इतने काल तक जप में बैठना है। छः घण्टे लगातार एक आसन में बैठकर जप करने से मन की चञ्चलता दूर होकर वह बिलकुल शिथिल और इन्द्रियों से काम लेने में उदासीन सा हो जाता है। बस, इसके पश्चात् जितनी देर भी अधिक बैठा जाता है उससे उतना ही अधिक आत्मिक कल्याण हुआ करता है। **एक बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि ओङ्कार का जप ही सर्वश्रेष्ठ जप है इसलिए योगाचार्य्य पतञ्जलि और इसीलिए वेद ने भी "ओं क्रतो स्मर" (हे जीव ओ३म् का जप कर) के द्वारा ओङ्कार के ही जप का विधान किया है।**

प्रणव-गान

(१)

ओं खं ब्रह्म ओं खं ब्रह्म ओं खं ब्रह्म ओम् ।
ओं तत्सत् ओं तत्सत् ओं तत्सत् ओम् ।।

ओं त्वमहम् ओं त्वमहम् ओं त्वमहम् ओम् ।
ओं भज मन ओं भज मन ओं भज मन ओम् ।।

(२)

ओं ब्रह्मा ओं विष्णुः ओं शम्भुः ओम् ।
ओं अग्निः ओं वायुः ओं सूर्य्यः ओम् ।।

ओं भद्रम् ओं काम्यम् ओं सर्व्वम् ओम् ।
ओं वीर्य्यम् ओं चित्रम् ओं श्रेष्ठम् ओम् ।।

ओं कर्त्ता ओं धर्त्ता ओं हर्त्ता ओम् ।
ओं धाता ओं माता ओं त्राता ओम् ।।

ओं ज्ञानम् ओं ध्यानम् ओं चिन्त्यम् ओम् ।
ओं पूतम् ओं सत्यम् ओं मित्रम् ओम् ।।

(३)

भजन

मेरे तो 'ओम्' नाम दूसरा न कोई ।। टेक ।।
ओं पिता ओं मात ओं तात ओं भ्रात ।
ओं स्वामी ओं सखा ओं गुरु सोई ।। १ ।।

ओं प्राण ओं ज्ञान ओं ही कल्याण गान।
हृदय में विराजमान आत्म ओं दोई ॥ २ ॥

ओं ब्रह्मा ओं विष्णु ओं रुद्र ओं भद्र।
ओं सूर्य्य ओं चन्द्र ओं इन्द्र होई ॥ ३ ॥

ओं देव ओं देवी ओं काल शिवकृपाल।
ओं श्री गणेश शेष लक्ष्मीपति जोई ॥ ४ ॥

ओं सगुण ओं निर्गुण ओं ही विराट् ब्रह्म।
ओं है आनन्दरूप देत दुःख खोई ॥ ५ ॥

ओं अग्नि ओं वायु ओं भूमि ओं आकाश।
ओं जल पवित्र करे पाप मैल धोई ॥ ६ ॥

(४)

ओ३म् है जीवन हमारा, ओ३म् प्राणाधार है।
ओ३म् हैं कर्त्ता विधाता, ओ३म् पालनहार है ॥ १ ॥

ओ३म् है दुःख का विनाशक, ओ३म् सर्वानन्द है।
ओ३म् है बल-तेजधारी, ओ३म् करुणा-कन्द है ॥ २ ॥

ओ३म् सब का पूज्य है, हम ओ३म् का पूजन करें।
ओ३म् ही के ध्यान से हम, शुद्ध अपना मन करें ॥ ३ ॥

ओ३म् के गुरु-मन्त्र जपने, से रहेगा शुद्ध मन।
बुद्धि नित प्रतिदिन बढ़ेगी, धर्म्म से होगी लगन ॥ ४ ॥

ओ३म् जपने से हमारा, ज्ञान बढ़ता जायगा।
अन्त में यह जाप हमको, मुक्ति तक पहुँचायगा ॥ ५ ॥

(५)

ओम् अनेक बार बोल प्रेम के प्रयोगी ॥ टेक ॥
है यही अनादि-नाद निर्विकल्प निर्विवाद।
भूलते न पूज्यपाद, वीतराग योगी ॥ ओम् अनेक बार०।

वेद को प्रमाण मान, अर्थ-योजना बखान ।
गा रहे गुणी सुजान, साधु स्वर्ग-भोगी ॥ ओम् अनेक बार० ।
ध्यान में धरें विरक्त, भाव से भजें सुभक्त ।
त्यागते अघी अशक्त, पोच पाप-रोगी ॥ ओम् अनेक बार० ।
शङ्करादि नित्य नाम, जो जपे विसार काम ।
तो बने विवेक धाम, मुक्ति क्यों न होगी ॥ ओम् अनेक बार० ।

ओ३म् प्रकाश

दोहा

(१)

पाठक ! पढ़िये पाठ शुभ, ओ३म्कार सुख-सार ।
पोथी पढ़नो सैकड़ों से उत्तम ओ३म्कार ॥ १ ॥
ओ३म्कार भज बावरे, और न ऐसी कार ।
जो करना नित ईश का, ध्यान इक-रस इक-तार ॥ २ ॥
साधक ! तप यह साध लो, उत्तम जाप अनाम ।
प्रेम भावना सहित ही, जपो ओ३म् शुभ नाम ॥ ३ ॥
श्रद्धा से तर जाओगे, तीन लोक त्रय ताप ।
भव-सागर के पार जा, होवोगे निष्पाप ॥ ४ ॥

(२)

अन्दर आनन्द उठ रहा, पता नहीं किस स्थान ।
है तरङ्ग यह उठ रही, कौन आनन्द-स्थान ॥ ५ ॥
आनन्द तो है आ रहा, पर दीखे नहीं स्रोत ।
उस अथाह आनन्द का, हृदय में जो विद्योत ॥ ६ ॥

(३)

ओ३म्कार उच्चारना, शान्त करे आनन्द ।
इसीलिए आनन्द प्रद, जो सुभद्र सुख-कन्द ॥ ७ ॥

की प्राप्ति होती तभी, हो जब न ओ३म्कार।
जपता-जपता ओ३म् को, जब न जपे ओ३म्कार ॥ ८ ॥
इसलिए साधो! चित्त को, करने लिए एकाग्र।
ही जाप करो आप सब, पर जब हो एकाग्र ॥ ९ ॥
चित्त, आपका त्याग दो, तभी सकल पद जाप।
आप सभी को त्यागकर, ही होंगे निष्पाप ॥ १० ॥
जब चित्त एकाग्र हो, पर होता हो न जाप।
आनन्द में हो मगन, तब ब्रह्मस्थ हो आप ॥ ११ ॥
यही परमपद समझिए, विरला बूझे कोय।
अनुभव कोई ही करे, तत् किरपा जब होय ॥ १२ ॥
पर यदि दया हो ब्रह्म की, फिर आनन्द ही भोग।
मग्न हुआ आनन्द में, भोगे आत्म-योग ॥ १३ ॥
आनन्द ही लूट लो, साधो! मौज बहार।
आनन्द सर्वस्व है, यही सकल जगसार ॥ १४ ॥

(४)

केवल सत् है प्रकृति, सत्-चित् जीव-स्वरूप।
परमात्मा आनन्दमय, चेतन सत् शुभ-रूप ॥ १५ ॥
आनन्द ही इसलिए, ईश का निजगुण जान।
अपने ही अन्दर मिले, ब्रह्म उसे पहिचान ॥ १६ ॥
साधो! आनन्द लूट लो, निजहि आत्मा साँथ।
जग सुख जितने हों उन्हें, जान इस की छाँय ॥ १७ ॥
छाया पकड़ी जाय न, पकड़िये जिसकी सोय।
उस छाया कारण परम, ईश की ही वही होय ॥ १८ ॥

(५)

ओ३म्कार उच्चार कर, ही हों कार्य्यारम्भ।
उसी समय ही मान लो, ईशानन्दारम्भ ॥ १९ ॥

मन वाणी के योग से, ओ३म्कार उच्चार।
भावपूर्ण आनन्द में, भर कर प्रेम पसार॥ २०॥

गावो गावो नित्य प्रति, मित्र! ओम् का नाम।
सुनो श्रवण से नित्य ही, पूर्ण हों सब काम॥ २१॥

जग के सुख सब दुःख हैं, रोग शोक के धाम।
चिदानन्द-मय शुद्ध धन, एक ओ३म् का नाम॥ २२॥

(६)

कामी को जिमि काम्य प्रिय, लोभी प्रिय जिमि दाम।
तैसे ही मोहिं ओ३म् की, धुन हों आठों याम॥ २३॥

उनके सब दिन सुदिन हैं, करें ओ३म् का जाप।
ओ३म् नाम विसराय के, जिह जाय तँह पाप॥ २४॥

"ओ३म्" अक्षर के कहत ही, निकसत पाप-पहाड़।
फिर आवन पावत नहीं, देत 'मकार' किवाड़॥ २५॥

रे मन! देर न कीजिये, जपो ओ३म् का नाम।
जासु प्रताप सुमिटत है, मन के सब दुष्काम॥ २६॥

अस्तु! इस मन्त्र-योग के आगे दूसरा योग 'हठ-योग' है, अब इसके विषय में वर्णन किया जायगा।

(२)

हठ-योग

चित्तवृत्ति-निरोध के द्वारा आत्म-साक्षात्कार करने के लिए द्वितीय अनुक्रम की क्रियाओं का नाम हठ-योग है। यह विषय स्मरण करने योग्य है कि मन्त्र, हठ, लय और राज इन चारों प्रकार के योगों के भीतर जितने प्रकार की क्रियाएँ आधुनिक योगियों द्वारा बताई गईं हैं वे सब भगवान् पतञ्जलि-कृत योग-दर्शन में जो यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्ग-योग के लक्षण बताए गए हैं, वे आठ अङ्ग ही चतुर्विध योग-विधियों के मूल-रूप हैं। केवल क्रिया-राज्य में सुविधा के लिए कहीं-कहीं अङ्गों की वृद्धि या अल्पता देखने में आती है और जहाँ ह्रास है, वहाँ एक अङ्ग में दूसरे का अन्तर्भाव किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

योग के अष्टाङ्ग-योग का वर्णन केवल योग-दर्शन में ही नहीं अपितु वेद तथा उपनिषदों में भी कई स्थानों में इसका वर्णन साक्षात् या परोक्ष-रूप से किया गया है।

ऋषि लोग त्रिकाल-दर्शी होते हैं। वे जानते थे कि आगे के लोग सृष्टि-नियम के विरुद्ध कुपथ-गामी होकर अपने शरीर, मन और आत्मा को निर्बल बनायेंगे। इसलिए उन्होंने पहिले शरीर की शुद्धि और आरोग्यता के अर्थ 'हठ-योग' का उपदेश किया। हठ-योग बहुत पीछे तब निकाला गया जब लोग रोगी होने लगे थे। हठात् या बलात् मन को अभ्यास में लगाया जाता है उस योग-साधन का नाम हठ-योग रखना युक्ति-युक्त है। जिसके द्वारा अपने शरीर के अङ्गों और श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उचित सञ्चालन करना होता है।

शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने की विधि

संसार में अनेक प्रकार के बल हैं अर्थात् धन-बल, जन-बल, राज्य-बल, विद्या-बल, तपो-बल, धर्म-बल, शारीरिक-बल, मानसिक-बल और आत्मिक-बल इत्यादि जितने बल हैं उन सब बलों में शारीरिक बल के विना मनुष्य प्रत्येक देश या जाति तथा समाज में पद-दलित होकर ठुकराया जाता है। अतः मनुष्य-मात्र को पहले शारीरिक बल बढ़ाने की आवश्यकता है। कहा भी है कि—

शरीरमाद्यं खलु धर्म्म-साधनम् ।

अर्थात् धर्म को सिद्ध करने के लिए जितने साधन अपेक्षित हैं उनमें सबसे प्रमुख साधन स्वस्थ एवं बलवान् शरीर ही है।

शारीरिक-बल का हेतु

शारीरिक बल की उन्नति का मूल कारण ब्रह्मचर्य और व्यायाम है[1]। व्यायाम के अनेक प्रकार हैं, जैसे— दण्ड निकालना, बैठक लगाना, मुग्दर फेरना, कुश्ती लड़ना, पानी में तैरना, जमीन पर दौड़ना, लकड़ी चलाना इत्यादि प्राचीन व्यायाम हैं। तथा फुटबाल, टेनिस, क्रिकेट, हाकी, पोलो खेलना इत्यादि आधुनिक व्यायाम हैं। उक्त व्यायामों से शरीर की तन्दरुस्ती और बल अवश्य बढ़ता है। परन्तु विशेष संलग्न होने में इनसे आयु घटती है। कारण कि— इन बाह्य व्यायामों में श्वास अधिक खर्च होते हैं और इन बाह्य व्यायामों से अतुल बल की प्राप्ति भी नहीं होती। अतुल बल की प्राप्ति के लिए जो मनुष्य नित्य उचित रीति से खान-पान, नियम-पूर्वक भोग-विलास, काम-काज में

---

१. यद्यपि पहले कर्म-फल (=प्रारब्ध) के अनुसार जीवात्मा को जन्म, आयु और सुख-दुःख आदि भोगों की प्राप्ति होती है (योग-सूत्र २, १३)। इस प्रारब्ध के साथ ही साथ आहार, सोना-जागना और ब्रह्मचर्य इन तीनों के युक्तिपूर्वक उपयोग करने से बल आदि की वृद्धि भी अवश्य होती है। बल भी तीन प्रकार का माना गया है—(१) स्वाभाविक, (२) ऋतु और आयु के अनुसार और (३) आहार, ब्रह्मचर्य, व्यायाम आदि के अनुसार (द्र० चरक-संहिता, सूत्रस्थान ११, ३५-३६)। —सम्पादकः

नियमितपन, समान-भाग में सोना तथा जागना रखने के अतिरिक्त त्रि-बन्ध, आसन और प्राणायाम का अभ्यास रखेगा उसके शरीर में अतुल बल प्राप्त होने से मन और आत्मा में भी बल की वृद्धि होगी—

अतुल बल प्राप्ति के तीन साधन

(१) त्रि-बन्ध— मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध और जालन्धर-बन्ध ये त्रि-बन्ध हैं। शौच आदि से निवृत्त होकर निम्न प्रकार करना चाहिए—

(i) मूल-बन्ध— सिद्धासन[1] या पद्मासन[2] से बैठकर दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों पैर के घुटनों को पकड़े रहे और बाह्य वायु द्वारा पूरक करके गुदा का १०–१० बार सङ्कोचन और प्रसारण करे[3]।

---

१. सिद्धासन लगाने की विधि यह है—

एक आसन पर बैठकर बायें पैर की एड़ी को गुदा और उपस्थ के बीच के स्थान (सीवनी) पर दृढ़ता के साथ जमाये। पश्चात् दाएँ पैर की एड़ी को उपस्थ से ऊपर वाले भाग पर दृढ़ता से जमाये। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर स्थिर करे। रीढ़ को सीधी रखें और ठोडी को हृदय के पास लाकर स्थिर करे और इन्द्रियों को वश में रखकर निश्चल भाव से दोनों भ्रुओं के मध्य अपनी दृष्टि स्थिर करे, यही सिद्धासन है (ह० प्र० २,३५)।

—सम्पादकः

२. पद्मासन की विधि—

बायें पैर के पृष्ठ-भाग को दायीं जङ्घा के ऊपर दृढ़ता के साथ जमाए। उसी प्रकार दायें पैर के पृष्ठ-भाग को बाईं जङ्घा के ऊपर दृढ़ता से जमाए। अब बाँयें पैर के अँगूठे को दाँयें हाथ से पकड़े, इसी प्रकार दायें पैर के अँगूठे को बायें हाथ से पकड़े। रीढ़ को सीधी रखे। अब ठोड़ी को हृदय के पास लाकर स्थिर करे अर्थात् ठोड़ी छाती से चार अङ्गुल के अन्तर पर रहे। तब नासिका के अग्र-भाग पर अपनी दृष्टि को स्थिर रखे। यही पद्मासन है। —सम्पादकः

३. ह० प्र० ३, ६१ :

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥

फल— इसके करने से गुदा और उपस्थ सम्बन्धी सब नसों में वायु और रक्त का सञ्चार होकर गुदज और योनिज सब रोग नष्ट होते हैं। तथा अधोगामी अपान-वायु ऊर्ध्व-गामी होकर जठराग्नि को अत्यन्त प्रज्वलित करता है[1]। इससे अपान का प्राण से संयोग होता है, मल-मूत्र अल्प होता है और वीर्य का रक्षण होता है। इसलिए इसका अभ्यास करने वाला मनुष्य वृद्धावस्था में भी तरुण दिखाई देता है[2]।

(ii) उड्डियान-बन्ध— उड्डीन नाम पक्षी का है। यह बन्ध प्राण-वायु को रेचक करके करना होता है। सम्पूर्ण पेट को अन्दर खींचना और उसको जहाँ तक हो सके वहाँ तक पीठ

---

१. ह० प्र० ३, ६३; ६६ :

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं-वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः॥
अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्नि-मण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता॥

२. ह० प्र० ३, ६४; ६५ :

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

मूलबन्ध के परिणाम-स्वरूप अधोगामी अपान-वायु ऊपर उठकर प्राण के साथ मिलकर एक हो जाता है, दूसरी ओर अपान के ऊपर की ओर जाने से नाभि के निम्न-भाग में स्थित जाठराग्नि के केन्द्र का धुक्षण होता है इससे जाठराग्नि अतीव प्रदीप्त हो जाती है। उसकी उष्णता से सुप्त हुई कुण्डलिनी जाग पड़ती है और उसका मुख सीधा होने पर अपान के साथ एकता को प्राप्त हुआ प्राण-वायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है। वहीं नाद भी अभिव्यक्त होता है। उस नाद को साथ लिए हुए एकीभूत प्राण-अपान हृदय के ऊपर पहुँच कर, नाद के बिन्दु को लिए, मूर्द्धा को प्राप्त होते हैं। तब समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि मूलबन्ध का योग में बहुत बड़ा महत्त्व है। —सम्पादकः

की ओर ले जाना होता है[1]। इस प्रकार १०-१० बार खींचना और छोड़ना भी।

फल— इस बन्ध के करने से पेट में जमे हुए आम (=आँव) आदि मल छूट कर उदर की सारी आँतें साफ हो जाती हैं और क्षुधा प्रदीप्त होने से यह अकाल मृत्यु को दूर करने वाला है।

(iii) **जालन्धर-बन्ध**— यह बन्ध कुम्भक में जिस समय प्राण-वायु न लिया जावे और न छोड़ा जावे उस समय दाँतों पर दाँत रखकर गर्दन को फुलावे और कण्ठ को सिकोड़कर ठोडी को कण्ठ-मूल में हृदय की ओर १०-१० बार लगावे और भृकुटी की ओर गर्दन फुलाए हुए देखे।

फल— यह बन्ध नाड़ियों के समूह-रूप जाल को बान्धता है और कपाल के छिद्र-रूप ब्रह्माण्ड का जो जल है, उसका प्रतिबन्ध होने से प्राण की निम्न गति होती है[2]। इस प्रकार अपान और

---

१. ह० प्र० ३, ५७ :

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्यु-मातङ्ग-केसरी॥

इस उड्डीयान-बन्ध के ठीक तरह बन्धने से प्राण पक्षी की उड़ान की तरह सुषुम्ना में उड़ने लगता है। —सम्पादकः

२. यह बन्ध बान्ध लेने से समस्त सिराओं (नाड़ियों) के जाल (=समूह) को तथा नीचे की ओर स्वभावतः रिसने वाले कपालस्थ जल (=जाल) को कण्ठ के संकोचन द्वारा बांधकर रखता है। अतः इसे 'जालन्धर' कहा गया है।

जालं=सिराणां जालं जलं च धरतीति जालन्धरः।

(ह० प्र० ३, ७१)

इस जालन्धर-बन्ध में कण्ठ को संकुचित करके एक ओर ऊर्ध्वगामी प्राणवायु को अधोगामी किया जाता है तो दूसरी ओर उसी कण्ठ-संकोचन के द्वारा इडा और पिङ्गला के स्वाभाविक व्यापार को रोक दिया जाता है ताकि प्राण और अपान हठ-पूर्वक एकत्र किए जा सकें। —सम्पादकः

प्राण का मध्य में संयोग होकर उष्णता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होता है। यह बन्ध जरा-मृत्यु का क्षय करने वाला है।

छः मास तक तीनों बन्धों का अभ्यास बराबर नित्य करने से उपरि-लिखित फलों की प्राप्ति होती है। साधारणतः फल नित्य अभ्यास करने से प्रतीत होगा। परन्तु कार्य-वश यदि किसी दिन न किया जाय तो कोई हानि नहीं। श्री भीष्मपितामह ने इन्हीं तीन बन्धों के अभ्यास द्वारा मृत्यु को रोक रखा था[1]।

(२) आसन— बल-प्राप्ति के लिए तीन आसनों का अभ्यास करना पर्याप्त है— सर्वाङ्गासन, ताड़ासन और शीर्षासन।

---

१. मूल-बन्ध के द्वारा मूलाधार को संकोचन करके तथा जालन्धर के द्वारा कण्ठ का संकोचन करके और उड्डियान के द्वारा नाभि-प्रदेश का पीठ के साथ संकोचन करके प्राण को सुषुम्ना नाडी के मुख (=ब्रह्म-द्वार) में प्रविष्ट कराया जाता है। यह अवधेय है कि मूलाधार (Anus) से एक वितस्ति (=१२ अंगुल) ऊपर अर्थात् नाभि (Navel) और मेहन (Penis) के मध्य-भाग (जिसे 'कन्द-स्थान' कहते हैं [ह०प्र० ३,११३]) में सुषुम्ना नाडी का मुख बन्द रहता है (ह० प्र० ३, १०७)। हठयोग के अनुसार आसन, आठ कुम्भक प्राणायामों और दस मुद्राओं (जिनमें उपर्युक्त त्रिबन्ध भी आते हैं) के ठीक-ठीक अनुष्ठान से सुषुम्ना का मुख खुल जाता है जिससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है (ह० प्र० ३, ११८; १२४) और चूंकि मन प्राण का अनुसरण करता है इससे मन भी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है (ह० प्र० ४,१९-२०)।

ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर प्राण के स्थिर हो जाने पर मन भी स्थिर हो जाता है (ह० प्र० ४,२३)। सुषुम्ना के मुख को आसनों, प्राणायामों और मुद्राओं के अभ्यास से सुषुम्ना के मुख को खोल देना ही हठ-योग का लक्ष्य है।

लय-योग और राज-योग का कार्य अवशिष्ट रहता है अतः आगे प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में निरोध-रूप लय होने से मन का भी लय हो पाता है। यह प्राण और मन का लय हो जाना ही लय-योग का उद्देश्य है। मनोलय=चित्तलय=समस्त-चित्तवृत्ति-निरोध ही राज-योग का सर्वोच्च लक्ष्य है जो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि रूप साधनों से साध्य है जिसमें चित्त, जीवात्मा और परमात्मा का परम-साम्य हो जाता है। इस अवस्था में परमानन्द की प्राप्ति होती है। —सम्पादकः

(i) सर्वाङ्गासन— प्रथम जमीन पर सीधे लेट जाइये। पश्चात् पाँवों को उठाकर अपने शिर के पीछे जमीन पर लगाइये। केवल पाँव के अँगूठे और अँगुलियाँ ही भूमि को स्पर्श करें और घुटनों समेत पाँव सीधे सरल-सूत्र में रहें। हाथ चाहे भूमि पर भी रखिये, चाहे सहारे के लिए कमर पर रखिए। हाथ भूमि पर रखकर सहारे के बिना ही करेंगे तो अच्छा है, परन्तु आरम्भ में कमर (कटि) को हाथों का सहारा देने से सुगमतया यह आसन होता है। इस आसन पर तीन बार न्यून से न्यून ३ मिनट तक और अधिक से अधिक ५ मिनट तक अभ्यासी रह सकते हैं।

फल— इस आसन से क्षुधा प्रदीप्त होती है, रात्रि के समय सोने से नसों में यदि कहीं सिकुड़न हो गयी होगी तो सीधी हो जायगी। शरीर वा मन का आलस्य, अनुत्साह भी दूर होगा। पेट के दोष दूर हो जाते हैं। यकृत्, प्लीहा के दोष और अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं। इस आसन के करते समय पेट अन्दर खींचना उत्तम है। परन्तु यदि यह प्रारम्भ में न हो सका, तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं। मलावरोध (कब्ज़) वाले को शौच जाने से पहले यह करना चाहिए। दूसरे को प्रातः शौचादि से निवृत्त हो जाने के पश्चात् करना होगा।

(ii) ताड़ासन— प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर पूर्व अथवा उत्तर की दिशा को मुख करके दोनों हाथ नीचे को सोधा लटका कर, जो कण्ठ के नीचे खाली गड्ढा है उसमें चिबुक (ठोड़ी) को लगाकर, श्वास को रोक कर मुख बन्द करके दो या तीन सेकण्ड तक वैसे ही रहे, पश्चात् नासिका द्वारा श्वास छोड़ देवे। तत्पश्चात् ही सिर को कन्धों के बीच अर्थात् पृष्ठ-भाग की ओर ले जावें, यहाँ तक कि नेत्र आकाश के सम्मुख हो जावें, फिर पूर्व के अनुसार सीधा होकर श्वास छोड़ देवे। फिर ग्रीवा घुमाकर ठोड़ी को दाहिनी ओर कन्धे के ऊपर पहुँचाने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार बायें ओर कन्धे का ठोड़ी से स्पर्श करने का प्रयत्न करे और आठ या दस बार इस सम्पूर्ण क्रिया को पूर्व बतलाये विधि से सम्पादन करे। फिर दोनों हाथ एक साथ ऊपर को वेग से

उठावे और ऊपर दोनों हथेली मिला देवे और तांड़ वृक्ष की भाँति बन जावे। दोनों पैरों से पञ्जों के बल खड़ा हो जावे। दोनों हाथों की अँगुलियों की बार-बार मुट्ठी बाँधे, मुख बन्द रखे। फिर दोनों भुजाओं को शीघ्रता से फैला देवे और पूर्ववत् सीधा होकर श्वास को छोड़ देवे। यह क्रिया तीन-चार सेकण्ड में हो जाती है। ऐसे आठ-दस बार करे। तत्पश्चात् उस समय दाहिनी भुजा से दो-तीन बार चक्कर लगावे, यही क्रिया बाईं भुजा से भी करनी चाहिए। पश्चात् दोनों भुजाओं से एक साथ दो-तीन बार उलटा चक्कर लगावे। फिर दो-तीन बार सीधा चक्कर लगावे। तत्पश्चात् एक बार दाहिने पैर को सामने फेंके। पुनः दूसरे बायें पैर को सामने फेंके। जो क्रिया इस ताड़ासन में भुजाओं से की थी, वैसे ही इसे भी आठ-दस बार करे, भुजायें ऊपर को उठाई जाती हैं। पैर सामने को फेंके जाते हैं। यह जो आठ-दस बार की गणना बताई गई है, सो आरम्भ में अभ्यास के लिए है। कुछ समय में जब अभ्यास ठीक हो जावे तब इस आसन की क्रियाएँ, तब तक करता जाय जब तक कि क्षुधा पूर्ण-रूपेण प्रज्वलित न हो जावे। बाद में इसको बन्द कर देवे।

फल— इस आसन से स्नायुओं में नव-जीवन की प्राप्ति, शरीर में खून का प्रवाह बढ़ेगा और प्रतिदिन पांच-दस मिनट करने से सारे शरीर के स्नायुओं में बल का सञ्चार होगा। सोने के बाद जाग आते ही आलस्य के कारण जो शीघ्र उठ नहीं सकते, वे इस आसन को बिस्तरे पर लेटे हुए भी करेंगे तो तत्काल उत्साह का अनुभव कर सकते हैं। शौच-शुद्धि के लिए भी बड़ा लाभ होता है। शौचादि के पश्चात् करना हो तो इस आसन को करके फिर किसी प्रकार का व्यायाम न करे। यह सब व्यायामों का अन्तिम व्यायाम है। इस आसन में जठराग्नि उत्तेजित हो जाती है।

कुछ थोड़ी देर तक सावधान होकर आसन की स्थिरता के लिए प्राण-विजयी प्राणायाम करने को बैठ जावे।

(iii) **शीर्षासन**— यह सायंकाल में करना चाहिए। जब सारे स्नायु काम-काज करने, चलने-फिरने से थक जावें उस समय यानी ४ से ६ बजे तक किया जावे। इसकी विधि प्राणायाम बतलाने के बाद बतलायी जायगी (पृ० १५१-५२)।

(३) **प्राणायाम**— इसे प्राण-व्यायाम अथवा फेफड़ों का व्यायाम भी कह सकते हैं। प्राणायाम कई प्रकार के हैं। यहाँ पर शरीर में अतुल-बल-प्राप्ति के लिए पञ्च प्राणायामों का वर्णन किया जा रहा है।

प्राण-विजयी प्राणायाम

पञ्चप्राण-विजयी पञ्च प्राणायाम— शरीर के अन्दर प्राण-शक्ति वास्तव में परमात्मा ने एक ही बनाई है तथापि उसके कार्यों के भेद से पाँच प्राण माने गये हैं। यथा—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

(१) **प्राण**— जो वायु मुख और नासिका से लेकर हृदय तक शरीर का व्यापार चलाता है, उसको प्राण-वायु कहते हैं[1]। इसका मुख्य कार्य फेफड़ों में रक्त-शुद्धि करना है तथा श्वास को स्थिर रखना और मनुष्य जो कुछ खावे-पीवे उसको भीतर की ओर ले जाकर पक्वाशय में ले जाना और जीवन का रक्षक बनाना है। इसके बिगड़ जाने से हिचकी, श्वास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) **अपान**— उस वायु को कहते हैं जो नाभि से लेकर नीचे पैरों के तलवों तक सञ्चार करके शरीर का व्यापार चलाता है[2]। यह मल-मूत्र, स्त्रियों में रज तथा गर्भ को नीचे सरकाता

---

१. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) :

प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः।

२. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) :

अपनयनादपान आपादतल-वृत्तिः।

है अर्थात् बाहिर निकालने के समय बाहिर निकाल फेंक देता है। इस वायु के बिगड़ जाने से बस्ति, आँत तथा शुक्र के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) समान— यह वायु हृदय के नीचे नाभि तक सञ्चार करके नाड़ियों को, उनके आवश्यकतानुसार, रस पहुँचाता है[1] तथा पक्वाशय और आमाशय में घूमता है, जठराग्नि से मिलकर भोजन को पचाता और उससे उत्पन्न हुए मल-मूत्रादि को पृथक्-पृथक् करता है। इसके बिगड़ जाने से मन्दाग्नि, अतीसार (Diarrhoea), गुल्म (Spleen) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(४) उदान— यह वायु कण्ठ से लेकर ऊपर मस्तक तक सञ्चार करके मस्तिष्क में रस पहुँचाता है[2]। शरीर से प्राणों का उत्क्रमण भी इसी के द्वारा होता है। इसी की शक्ति से मनुष्य बोलता, गाता और घण्टों तक उपदेश या व्याख्यान दे सकता है। जब यह बिगड़ जाता है तो गले में रोग उत्पन्न करता है और मनुष्य का बोलना तक बन्द कर देता है।

(५) व्यान— यह वायु सारे शरीर में सञ्चार किया करता है[3] और शरीर के सब स्नायुओं, सन्धियों और अन्यान्य अवयवों को गति देता है। रस और रक्त को सकल शरीर में बहाता और पसीना लाता है। चलना, फिरना, नीचे को झुकना, ऊपर को उठना, आँखों को बन्द करना और खोलना आदि चेष्टाएँ जो मनुष्य करता है वे सब इसी व्यान-वायु की सहायता से होती रहती हैं। इसके बिगड़ने से सब शरीर वा उसका कोई अवयव कांपने लगता है और जिकड़ कर बहुधा निकम्मा और निश्चेष्ट हो जाता है और दर्द आदि अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

---

१. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) :
समं नयनात् समानश्चाऽऽनाभि-वृत्तिः।

२. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) :
उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः।

३. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) : व्यापी व्यानः।

उपर्युक्त पाँचों प्राणों में से यदि एक प्राण को भी मनुष्य अच्छी तरह से वश में कर ले, तो अन्य प्राणों पर प्रभाव जम जाता है[२]। जैसे एक पिता के पाँच पुत्र हों और वह पिता यदि एक को भी डांट देता है, तो दूसरों पर आप ही आप आतङ्क जम जाता है। परन्तु हाँ, एक को भी वश में करने के लिए काफी प्रभाव और दृढ़ प्रयत्न की आवश्यकता होती है। प्राणों को वश में करना कोई साधारण काम नहीं हैं। फिर भी मनुष्य को ईश्वर ने जो विचित्र शक्तियाँ दी हैं, उनके सामने कुछ भी असम्भव नहीं है। प्रयत्न और अभ्यास से सभी काम सिद्ध हो जाते हैं।

(१) प्राण-वायु पर विजय

(१) सीधी सरल रेखा में स्वाभाविक रूप से खड़े हो जाओ। शरीर बहुत कड़ा न करो। हाथ स्वाभाविक रूप से नीचे छोड़ दो।

(२) मुख बन्द करके, सुख-पूर्वक यथा-शक्ति नासिका के दोनों छिद्रों से वायु की धारा को धीरे-धीरे खींचते हुए पूरक करो। हवा को फेफड़ों में इतने धीरे-धीरे भरो कि आवाज बिलकुल न होने पावे। वायु-धारा खींचते समय छाती को फुलाते जाओ। शरीर किसी प्रकार झुकने अथवा टेढ़ा होने न पावे। दृष्टि नीचे की ओर अथवा नासिका के अग्र-भाग पर रहे। ऊपर की ओर दृष्टि फेंकने से चक्कर आने की सम्भावना रहती है।

(३) इसके पश्चात् यथा-शक्ति वायु को भीतर रोक कर कुम्भक साधो।

(४) फिर कुछ ठहर कर उरोद-पटल (डायफ्राम) को कुछ धक्का सा देकर वायु-धारा को धीरे-धीरे निकालते हुए रेचक करो। रेचक के बाद फिर वायु को विशेष रूप से ग्रहण करने

---

२. व्यास-भाष्य (योग-सूत्र ३, ३९) :

तेषां (पञ्चानां) प्रधानः प्राणः।

की इच्छा न होनी चाहिए। यह बात ध्यान में रखो। साधना इसी का नाम है।

इस प्रकार प्रातः और सायं कोमल धूप में प्रत्येक बार ३ से ५ तक पूरक, कुम्भक और रेचक करना चाहिए।

(२) अपान-वायु पर विजय

(१) दोनों घुटनों के गाँठों पर दोनों हाथ रखकर, नीचे झुककर खड़े हो जाओ। दृष्टि भी नीचे की ओर ही रहे। अब पूरक करने का प्रारम्भ करो।

(२) पूरक के बाद गुदा और पेडू को यथा-शक्ति भीतर की ओर खींचते हुए कुम्भक करो।

(३) फिर पेट को जरा धक्का-सा देकर रेचक करो।

(४) रेचक के बाद फिर सीधे खड़े हो जाओ और फिर उपर्युक्त प्रकार से झुककर पूरक, कुम्भक और रेचक करो।

इस प्रकार तीन से पाँच बार तक यही प्राणायाम करते रहो। इस प्राणायाम से पेशाब में धातु जाना, स्वप्न-दोष इत्यादि प्रमेह के सब रोग दूर हो जाते हैं।

(३) समान-वायु पर विजय,

(१) सीधे खड़े हो जाओ। धीरे-धीरे वायु-धारा खींच कर पूरक करो।

(२) पूरक पूर्ण हो जाने पर छाती को फुलाओ। अब एक सेकण्ड वायु को स्थिर करो। फिर छाती को जरा ऊपर तानकर पेट को अन्दर खींचो यहाँ तक कि दोनों बाजू तन जावें और पेट बिलकुल पीठ से जा मिले। अब यथा-शक्ति कुम्भक साधो।

(३) फिर पेट को जरा (थोड़ा) धक्का सा देकर धीरे-धीरे रेचक करो।

इस प्रकार तीन से पाँच बार तक प्राणायाम करो। यह समान-वायु पर विजय प्राप्त करने का प्राणायाम बहुत ही महत्त्व-

पूर्ण है। जठराग्नि के आस-पास समान-वायु का गोलाकार वेष्टन रहता है। इसलिए योगी लोग जब समान-वायु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं तब भीतर अग्नि के ऊपर का आवरण हट जाता है और उसकी ज्वालाएँ ऊपर की ओर लपकती हैं। इससे योगी का तेज अग्नि की तरह दिखाई देने लगता है।

(४) उदान-वायु पर विजय

(१) सीधे अकड़ कर खड़े हो जाओ और पूर्वोक्त रीति से पूरक करो।

(२) इसके पश्चात् कुम्भक करके दोनों हाथों के पञ्जों से गले को चारों ओर से पकड़ो और भीतर से वायु का कुम्भक करके, बाहर के पाश का अर्थात् बाँध का प्रतीकार करते हुए, गर्दन को खूब फुलाओ और गले के बीचों-बीच के ऊपर का भाग दोनों अंगूठों से दबाओ।

(३) फिर दाब को ढीला करके रेचक करो। उदान वायु कण्ठ-स्थान में रहता है, इसलिए इस प्राणायाम में कण्ठ पर ही बल दिया जाता है। अभ्यासी को धीरे-धीरे कण्ठ की फाँसी का यह प्राणायाम साधना चाहिए। इस प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य फाँसी की डोरी को भी, गर्दन कड़ी करके, तोड़ सकता है। फाँसी के द्वारा उसके प्राण नहीं जा सकते। इसी प्राणायाम के द्वारा महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ने कालिया नाग को अपने शरीर से दूर किया था। योगी लोग इसी प्राणायाम के योग से मृत्यु को टाल सकते हैं। राजर्षि भीष्म पितामह ने इसी प्राणायाम के बल पर मृत्यु पर विजय प्राप्त किया था।

(५) व्यान-वायु पर विजय

व्यान-वायु सारे शरीर के पट्ठे-पट्ठे, रग-रग और सन्धि-सन्धि में सञ्चार किया करता है। अतएव पूरक करके, कुम्भक के द्वारा, शरीर का कोई भी भाग, उसी समय भर के लिए, इतना सुदृढ़ और कठोर किया जा सकता है कि उस भाग पर कोई भी

भारी से भारी आघात कुछ भी असर नहीं कर सकता। कुम्भक के द्वारा शरीर का कोई भी अङ्ग कड़ा करके आप वीर अङ्गद की भाँति खड़े हो जाइये, फिर उस अङ्ग पर, चाहे कोई बड़े से बड़ा पहलवान क्यों न हो, रद्दे लगावें, पर आपको कुछ भी मालूम नहीं होगा। छाती या पेट पर से भरी हुई गाड़ी निकालना, कड़ी-जञ्ज़ीर तोड़ना, इत्यादि कार्य इसी प्राणायाम के बल पर किये जाते हैं।

पञ्च प्राणों को वश में करने के लिए उपर्युक्त क्रमानुसार आरम्भ में एक सप्ताह तक एक प्राणायाम का अभ्यास करके, फिर प्रत्येक सप्ताह में एक-एक प्राणायाम को बढ़ाते जाना चाहिए। प्रत्येक प्राणायाम की क्रिया पाँच-पाँच बार करनी चाहिए। अर्थात् पहले सप्ताह में यदि प्राण-वायु पर विजय प्राप्त करने का प्राणायाम किया जाय, दूसरे सप्ताह में पहला प्राणायाम तो किया ही जाय, उसके साथ ही दूसरा भी आरम्भ कर दिया जाय। फिर तीसरे सप्ताह में पहले दोनों के साथ तीसरा भी किया जाय। इसी प्रकार पिछलों को आरम्भ रखते हुए क्रमशः एक-एक सप्ताह बाद अगले प्राणायामों को भी सम्मिलित करते जाना चाहिये। इस प्रकार पाँच सप्ताह के बाद पाँचों प्राणायाम साथ-साथ होने लगेंगे।

शीर्षासन[1]

सायंकाल ४ बजे से ६ बजे तक के अन्तर्गत अथवा भोजन से २ घण्टे पूर्व ही इस आसन को निम्न प्रकार करना चाहिए। सायंकाल ही शीर्षासन करने का हेतु यह है कि दिन भर कार्य करने से कुछ नाड़ी-नसों में थकावट आने के कारण और सूर्य की गरमी शरीर पर पड़ने आदि से रक्त का सञ्चार शरीर में भली-भाँति सायंकाल को ही हो सकता है।

---

१. देखिए पृ० १४६ पर पंक्ति ३-६।

विधि— आरम्भ में इस आसन को दिवाल के साथ-साथ करना अच्छा है। कुछ दिनों में अभ्यास हो जाने पर कपड़े की गद्दी बनाकर उस पर शिर रख के दोनों हाथों की अँगुलियों को एक दूसरे पर डालकर उसी पर शिर रखकर पाँवों को ठीक शिर के ऊपर ही ऐसे लम्बे तान कर करना चाहिए कि ऊपर मुण्डी और नीचे तालु हो जाय। इस प्रकार अभ्यास परिपक्व हो जाने पर कोहनी से अँगुलियों के अन्त तक हाथ भूमि पर पृथक्-पृथक् रखकर शिर को भूमि से पृथक् ऊपर करके भुजाओं के सहारे भी भूतपूर्व शीर्षासन किया जा सकता है। इस प्रकार हेर-फेर करके पद्मासन आदि बहुत से आसनों का प्रकार बनाया जा सकता है। उक्त आसन का अभ्यास ३ मिनट से ३० मिनट तक शनैः-शनैः बढ़ावे। एक बात ध्यान में रहे, केवल शीर्षासन करने मात्र से विशेष लाभ नहीं होगा बल्कि कोई न कोई रोग उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। अतः शीर्षासन करने के पश्चात् उसी समय सीधे खड़े होकर तुरन्त ही पाँच-पाँच बार भस्त्रिका प्राणायाम अर्थात् नासिका के दोनों छिद्रों से छाती में धीरे-धीरे श्वास को भरे यानी पूरक करे, पूरक में गर्दन ऊपर करे, बाद में रेचक यानी भरे हुए श्वास का रेचन धीरे-धीरे कर देवे। रेचक करते समय गर्दन नीचे की ओर करते हुए किया जाय। तदुपरान्त उसी समय दोनों हाथों के ऊपर उठाने और गर्दन को पीछे (पीठ) की तरफ जितना झुका सके झुकावे, फिर आगे की तरफ घुटनों की ओर कटि को धनुषाकार बनाकर, ठुड्डी को कण्ठ-कूप की तरफ लगा कर, दृष्टि को नाभि में रखता हुआ, दोनों हाथों की अँगुलियों से पैरों के अँगूठों को पकड़े। इस क्रिया को भी पाँच-पाँच बार करना चाहिए। गर्भावस्था तथा प्रसूतावस्था को छोड़कर स्त्रियां भी कर सकती हैं।

लाभ— शरीर के सब स्नायुओं में रक्त का सञ्चार होने से शरीर शुद्ध आरोग्य-पूर्ण हो जाता है। इस आसन से हृदय और मस्तिष्क बलवान् होते हैं। बुद्धि और स्मरण-शक्ति

बढ़ती है। जठराग्नि प्रदीप्त होने से क्षुधा बढ़ने लगती है। एक वर्ष नियम-पूर्वक करने से सिर के बाल भी काले होने लगते हैं। ६ मास विधि अनुसार नित्य करने से चमड़े की सिकुड़न, जो वृद्धावस्था में होती है, दूर हो जाती है। नेत्र की ज्योति बढ़ती है। भूख की अरुचि, कण्ठ-दोष, रक्त-दोष, गले पड़ने, छाती की कमजोरी, पेट की बीमारी, यकृत्, प्लीहा और मृगी आदि सब रोग दूर होते हैं।

जिस किसी का कान वहता हो अथवा कान के अन्दर फोड़ा-फुन्सी हो और आँखें आई हों तथा दर्द करती हों उन्हें ऐसी अवस्था में शीर्षासन नहीं करना चाहिए।

आहार और विहार

प्रत्येक प्रकार के योगाभ्यास में युक्ताहार-विहार की भी बड़ी आवश्यकता है। इसलिए उदर के दो भाग अन्न से पूर्ण करें (भरें) और एक भाग जल के लिए शेष रहने दें, और चौथा भाग प्राण-वायु के लिए शेष रक्खें। तथा तीक्ष्ण, रूखा, कटु, अम्ल, लवण एवं अति निद्रा और अति भाषण आदि त्याज्य हैं। प्राणायाम के अभ्यासी को विशेषकर स्निग्ध (चिकना) और दूध का ही विशेष सेवन करना चाहिए।

यौगिक चिकित्सा

(षट्-क्रिया)

अब शरीर के भीतर की शुद्धि के लिए षट् क्रियाओं का वर्णन करते हैं—

धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपाल-भाति— ये छः क्रियाएँ षट्-क्रिया के नाम से कही जाती हैं[1]।

---

१. ह० प्र० २, २२ :

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥

जिस पुरुष के मेद (Fat) और श्लेष्मा (=कफ) अधिक हो वह प्राणायाम के अभ्यास से पहले छः कर्मों को करे और जिसके मेद और श्लेष्मा की अधिकता न हो वह इन षट्-क्रियाओं को न करे[1]।

(१) धौति-कर्म

चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा सूक्ष्म (बारीक) वस्त्र लेकर कुछ-कुछ गर्म दूध या कुछ-कुछ गर्म जल से भिगो कर पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ एवं क्रम से १५ दिन में पूरा **गुरूपदिष्ट** रीति से निगल जाय, परन्तु उसका एक किनारा मुख और दाँतों के बीच दबाये रखे, पश्चात् दो-तीन सेकण्ड के अनन्तर वक्ष्यमाण **नौलिकर्म** करे। फिर धीरे-धीरे उसको बाहिर निकाल करके **क्षालन** कर लेवे अर्थात् धो लेवे। इस क्रिया के करने से छाती, उदर (आँतों) में लगा हुआ गन्दा मल, कफादि जो कि रोगों को उत्पन्न करने का कारण है वह साफ हो जाता है, उसके साफ होने से कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठादि कफादि-जन्य २० रोग नष्ट होते हैं[2]।

(२) बस्ति-कर्म

कनिष्ठिका अँगुली के समान मोटी और छः अँगुल लम्बी **कोमल बाँस** की नली लेकर **गुदा-द्वार** में चार अँगुल प्रवेश करके दो अँगुल बाहर रखे तथा नाभि-पर्यन्त **स्वच्छ जल** में उत्कट[3] **आसन** से बैठ करके नौलि-क्रिया से उदर के नलों को उत्थापन करके अपान-वायु के आकर्षण द्वारा जल का आकर्षण करे, फिर **नौलि-कर्म** से पेट के जल को चलाकर त्याग कर दे। यदि

---

१. ह० प्र० २, २१ :

मेद-श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां सम-भावतः॥

२. ह० प्र० २, २५।

३. शौच-काल की तरह पैरों के पंजों के भार पर बैठना।

किञ्चित् जल उदर में रह जावे तो **मयूरासन** करके निकाल दे। यह **बस्ति-कर्म** है[१]।

इस क्रिया के करने से **गुल्म, प्लीहा, पेट के अजीर्ण, जलोदर, मन्दाग्नि** इत्यादि **रोग, वात-पित्त-कफ** से जनित **सर्व-रोग** नष्ट होते हैं[२]। तथा इसके अभ्यास से **सप्त धातुओं** (रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य) की शुद्धि तथा **पञ्च कर्म-इन्द्रिय, पञ्च ज्ञान-इन्द्रिय और** अन्तःकरण की निर्मलता होती है एवं परिताप, विक्षेप, शोक, मोह, गौरव, आवरण, दैन्य आदि राजस-तामस वृत्तियों की **निवृत्ति** होकर **प्रसन्नता, प्रकाश, लाघव आदि सात्त्विक धर्मों** की वृद्धि होती है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कान्ति प्राप्त होती है और वात, पित्त और कफ के दोषों का शमन होकर वे समत्व को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शरीर नीरोग होता है[३]।

(३) नेति-कर्म

अर्थात् दो बालिश्त मुलायम अर्थात् सीने का **सूक्ष्म धागा** लेकर जितना अपनी **नासिका** में प्रवेश कर सके, उतना ही २० या २५ गुणा लेकर उसका एक **बालिश्त**[४] अग्र भाग **गुन्थन** करके, उसके ऊपर **मोम लगाकर** चिकना कर लेवे और **एक बालिश्त** पिछला भाग खुला रहने दे, फिर उसका **अग्र भाग** नरम करके

---

१. ह० प्र० २, २६।

विशेष— धोति और वस्ति ये दोनों कर्म भोजन से पूर्व ही करने चाहिए। उनके अनन्तर भोजन में विलम्ब भी नहीं करना चाहिए। —सम्पादकः

२. ह० प्र० २, २७।

३. ह० प्र० २, २८।

४. एक बालिश्त से अधिक भी हो सकता है। जितने से नेति-कर्म हो सके उतने का कथन अभिप्रेत है। —सम्पादकः

धीरे-धीरे नासा-द्वार में प्रवेश करे, जब वह कण्ठ के साथ स्पर्श करने लगे, तब मुख में दाहिने हस्त की अंगुली डाल कर शनैः-शनैः मुख के बाहिर निकाले। जब वह कुछ बाहिर आवे तब नासिका में स्थित नेति के दूसरे (पिछले) भाग को दूसरे हाथ से पकड़ करके दो-तीन वार एक-दूसरी तरफ फिरावे। पश्चात् मुख से शनैः-शनैः निकाल ले। यह नेति-क्रिया है[1]। इसके करने से कपाल की शुद्धि और नेत्रों की शुद्धि होकर शिरोरोग, नेत्र-रोग, अर्थात् कण्ठ से ऊपर के जितने रोग हैं वे सब नष्ट होते हैं[2]।

(४) त्राटक-कर्म

दोनों नेत्र खोल करके जब तक अश्रु-पात नहीं होवे, तब तक एक किसी भी सूक्ष्म वस्तु को एकाग्र-चित्त होकर देखता रहे। आँखों में पानी आने पर छोड़ दे। इसे त्राटक कहते हैं[3]। इसके करने से निद्रा, नेत्र-रोग, तन्द्रा और आलस्य आदि दूर होते हैं तथा इससे नेत्रों में एक आकर्षण-शक्ति बढ़ जाती है। मैस्मेरिज्म वाले लोग विशेषतः इसी क्रिया को करते हैं।

(५) नौलि-कर्म

ग्रीवा को नीचे करके दोनों हाथ जानुओं पर रखे, पश्चात् प्राण का रेचक, पूरक करके उदर के दोनों नलों का उत्थापन करके शीघ्रता से बार-बार दाईं-बाईं ओर घुमावे। इसको सिद्ध लोग नौलि-क्रिया कहते हैं[4]। इसके करने से जठराग्नि की वृद्धि और अन्न की अपरिपक्वता के (अजीर्ण आदि) रोग नष्ट होते हैं तथा इससे ही धौति और बस्ति क्रियाएँ सिद्ध होती हैं[5]।

(६) कपाल-भाति

लोहार की धौंकनी (खाल) की तरह शीघ्र-शीघ्र प्राण का

---

१. ह० प्र० २, २६। २. ह० प्र० २, ३०।
३. ह० प्र० २, ३१। ४. ह० प्र० २, ३३।
५. ह० प्र० २, ३४।

जो रेचक, पूरक करना है, उसे कपाल-भाति कहते हैं। इसके करने से कफ-जन्य सर्व दोष नष्ट होते हैं[1]।

विशेष— प्राय: योगियों का सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम के पूर्व षट्-क्रिया करनी चाहिए और कई एक योगाचार्यों का मत है कि जिस पुरुष के शरीर में मेद, श्लेष्मा अधिक हो, उसे ही इन षट्-क्रियाओं का आचरण करना उचित है। कइयों का कहना है कि प्राणायाम से ही शरीर की शुद्धि हो सकती है इसलिए इनके करने की आवश्यकता नहीं[2]। हमारी सम्मति में तो हर एक मनुष्य को प्राणायाम से प्रथम षट्-क्रियाएँ करनी चाहिए क्योंकि ये क्रियायें प्राणायाम की बड़ी सहायक हैं अर्थात् इनसे शरीर हल्का, शुद्ध तथा नीरोग होकर प्राणायाम में बड़ी योग्यता प्राप्त करता है।

---

१. ह० प्र० २, ३५ :

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोष-विशोषणी॥

२. ह० प्र० २, ३६; ३७ :

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्धयति॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न संमतम्॥

अब हम अपने पाठक-गणों को प्राणायाम-रूपी परम-चिकित्सा से सकल रोगों का नाश बतलाते हैं—

अष्ट कुम्भक-प्राणायाम

कुम्भक-प्राणायाम के आठ भेद हैं—

(१) सूर्य-भेदन ।	(२) उज्जायी ।
(३) सीत्कारी ।	(४) शीतली ।
(५) भस्त्रिका ।	(६) भ्रामरी ।
(७) मूर्च्छा ।	(८) प्लाविनी ।

ये आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम हैं[1]। अब फल-सहित इनका पृथक्-पृथक् कथन करते हैं—

---

१. ह० प्र० २, ४४ :

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ।।

हठयोग के अनुसार सूर्य-भेदन आदि आठों कुम्भकों के विषय में त्रि-बन्धों के बारे में यह निर्देश किया गया है कि पूरक के अन्त और कुम्भक के आदि में एक-दम जालन्धर-बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डियान-बन्ध लगाना चाहिए। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि जालन्धर-बन्ध के लगते ही तुरन्त मूल-बन्ध भी लगा लेना आवश्यक है। इस प्रकार जब रेचक किया जा रहा होता है तब उड्डियान-बन्ध के समय उदर-मध्य (नाभि) को पीठ की ओर खींचने से प्राण सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होता है—

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ।।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने सति ।
मध्ये पश्चिम-तानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।

(ह० प्र० २, ४५; ४६)

(१) सूर्य-भेदन कुम्भक

प्राणायाम का अभ्यास करने वाला एकान्त, स्वच्छ, पवित्र देश (जगह) में जो कि न अति ऊँची हो और न अति नीची हो ऐसी सम-तल जगह में कोमल वस्त्र (कम्बल आदि) बिछाकर उस पर पद्मासन लगाकर बैठे और ग्रीवा, शरीर, शिर को सीधा रख कर नासाग्र पर दृष्टि बाँधकर पश्चात् बाह्य-स्थित वायु को दक्षिण नाडी (इडा) से शनैः-शनैः खींच कर पूरक करके शिखा से लेकर नख-पर्य्यन्त सर्व शरीर में यथा-शक्ति कुम्भक करे। पश्चात् वाम नाडी (पिंगला) से धीरे-धीरे रेचन करे। यह सूर्य-भेदन कुम्भक है[1]।

फल— यह सूर्य-भेदन नामक कुम्भक मस्तक को शुद्ध करता है और अस्सी प्रकार के वात-दोषों को हरता है तथा उदर में उत्पन्न होने वाले रोगों के जनक जो कृमि (कीड़े) होते हैं उनको नष्ट करता है। इसलिए यह उत्तम सूर्य-भेदन कुम्भक बारम्बार करना चाहिए[2]।

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि मूल-बन्ध यदि ठीक तरह न लग सका हो तो वीर्य-क्षय, विष्टम्भ (=कब्ज़), जठराग्नि की मन्दता, स्वर की मन्दता और पुरीष भी बकरी के मैंगनी की भाँति आयेगा। इसके विपरीत यदि धातु की पुष्टि, मल-शुद्धि, जठराग्नि की दीप्ति और स्वर की अभिव्यक्ति हो तो समझना चाहिए कि मूल-बन्ध का बन्ध ठीक-ठीक लगा है।

तीन बन्धों का विवरण पीछे (पृष्ठ १४०-१४३) में हो चुका है।

—सम्पादकः

१. ह० प्र० २, ४८; ४९ :

अथ सूर्यभेदनम्—

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्ष-नाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥
आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्।
ततः शनैः सव्य-नाड्या रेचयेत् पवनं शनैः॥

२. ह० प्र० २, ५० :

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम्॥

(२) उज्जायी कुम्भक

मुख का संयम करके इडा और पिंगला नाडी से शनैः-शनैः इस प्रकार प्राण का आकर्षण करे जिस प्रकार वह वायु कण्ठ से हृदय-पर्यन्त शब्द करती हुई लगे। फिर सूर्य-भेदन के समान कुम्भक करके पिङ्गला (वाम-नाड़ी) से प्राण का रेचन करे अर्थात् बाएँ नासिका-द्वार से वायु को निकाले। इसको उज्जायी कुम्भक कहते हैं[1]।

फल— इसके करने से कण्ठ में जितने श्लेष्म-सम्बन्धी कास आदि दोष हैं, उनको यह दूर करता है और जठराग्नि बढ़ाकर शरीर में कान्ति पैदा करता है तथा जलोदर और सम्पूर्ण देह में वर्तमान जो और जितने धातु-दोष हैं उनको यह नष्ट करता है। यह उज्जायी नामक कुम्भक, गमन करते हुए या खड़े हुए, सब अवस्थाओं में करने योग्य है[2]।

(३) सीत्कारी कुम्भक

सीत्कार-पूर्वक अर्थात् दोनों ओष्ठों के बीच जिह्वा को लगा कर मुख से वायु का आकर्षण करते हुए पूरक करे फिर यथाशक्ति

---

१. ह० प्र० २, ५१; ५२ :

अथोज्जायी—

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया तथा।

२. ह० प्र० २, ५२; ५३ :

श्लेष्म-दोषहरं कण्ठे देहानल-विवर्धनम्।
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥

गच्छता तिष्ठता ='गमन करते हुए या खड़े हुए' इस वचन से इस कुम्भक में मूल-बन्ध आदि त्रि-बन्ध नहीं होते। —सम्पादकः

कुम्भक करके नासा-द्वारों से रेचन करे। इसका नाम सीत्कारी कुम्भक है[1]।

फल— इसके अभ्यास से मनुष्य कामदेव के समान सौन्दर्य-युक्त होता है। फिर उसको क्षुधा, तृषा और निद्रा-आलस्य आदि नहीं सताते। अतः अपनी शक्ति और सौन्दर्य बढ़ाने के लिए हरेक मनुष्य को सीत्कारी कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए[1]।

(४) शीतली कुम्भक

काक-चञ्चु की तरह जिह्वा को मुख से किञ्चित् बाहर निकाल करके बाह्य-स्थित वायु को आभ्यन्तर आकर्षण करके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से यथाशक्ति कुम्भक करके फिर नासा-पुटों से धीरे-धीरे प्राण का रेचन करे। यह शीतली कुम्भक है[2]।

फल— इससे प्लीहा, गुल्म तथा सब प्रकार के ज्वर आदि रोग और सर्प आदि के विष दूर होते हैं अर्थात् इसके अभ्यासी को सर्पादि का विष नहीं चढ़ता है।

---

१. ह० प्र० २, ५४; ५५ :

अथ सीत्कारी—

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥
(योगिनीचक्र-संमान्यः सृष्टिसंहार-कारकः)।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते॥

२. ह० प्र० २, ५७ :

अथ शीतली—

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भसाधनम्।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः॥

अतः इस कुम्भक का अभ्यास भी हरेक मनुष्य को करना चाहिए। सर्पादि का भय न रहे[१]।

(५) भस्त्रिका कुम्भक

पद्मासन लगाकर[२] मुख को बन्द करके जैसे लोहार भस्त्रा (=धौंकनी) को चलाता है, वैसे ही अपने शरीर में स्थित जो प्राण-वायु है उसको एक नासा-द्वार से रेचन करे फिर शीघ्र ही उसे दूसरे द्वार से पूरक करे, फिर रेचक करे पुनः शीघ्र ही पूरक करे, जिस नासा से रेचक करे, उसी से पूरक करे। इस प्रकार वारंवार रेचक-पूरक करते-करते जिस काल में परिश्रम होवे तो दक्षिण नासा-द्वार से पूरक करे। पश्चात् यथा-शक्ति कुम्भक करके वाम नासा से रेचक करे, पुनः पूर्ववत् ही रेचक-पूरक करे। इसका नाम भस्त्रिका-कुम्भक है[३]।

---

१. ह० प्र० २, ५८ :

गुल्म-प्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि॥

२. भस्त्रिका-कुम्भक के लिए पद्मासन लगाने का ही विशेष विधान है। —सम्पादकः

३. ह० प्र० २, ६०-६५ :

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम्॥
पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चालयेत्॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद् देहे तदा सूर्येण पूरयेत्॥
यदोदरं भवेत् पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम्॥
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम्।

फल— भस्त्रिका कुम्भक त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त, श्लेष्म (कफ) के विकार को दूर करता है तथा शरीर को जठराग्नि को बढ़ाता है और शीघ्र ही सोती हुई कुण्डलिनी को जगाता और पवित्र करता है, तथा सुख का दाता है। इसलिए इसका अभ्यास भी मनुष्यों को सन्ध्या के समय करना उचित है[1]।

यद्यपि सब कुम्भक सब काल में हितकारी होते हैं तथापि सूर्य-भेदन और उज्जायी ये दोनों उष्ण हैं इसलिए वे शीत-काल में हितकर हैं और सीत्कारी, शीतली ये दोनों शीतल हैं इसलिए ये उष्ण-काल में हितकारी हैं, और भस्त्रिका कुम्भक न शीत है न उष्ण है इस कारण यह सब काल में हितकारी है अर्थात् सब काल में करने योग्य है[2]।

सम्पूर्ण कुम्भक सब रोगों को हरते हैं परन्तु सूर्य-भेदन बहुधा करके वात रोगों को हरता है और उज्जायी प्रायः कफ को और सीत्कारी, शीतली ये दोनों प्रायः पित्त दोषों को हरते हैं और भस्त्रिका-कुम्भक त्रिदोष सन्निपात आदि सब रोगों को हरता है[2]।

(६) भ्रामरी कुम्भक

जैसे 'भ्रमर' का शब्द (भृङ्ग-नाद) होता है उसी प्रकार गुञ्जार-सहित वाम नासा-द्वार से वायु का पूरक करे। पश्चात्

---

१. ह० प्र० २, ६५-६७ :

वात-पित्त-श्लेष्महरं शरीराग्नि-विवर्धनम्।
कुण्डली-बोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥
सम्यग् गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥

२. द्रष्टव्या ब्रह्मानन्दीया व्याख्या 'ज्योत्स्ना' (ह० प्र० २, ६६)।

यथा-शक्ति कुम्भक करके जैसे 'भ्रमरी' का शब्द (भृङ्गी-नाद) होवे वैसे ही मन्द-मन्द गुञ्जार करता हुआ दक्षिण (दाँयें) नासा-द्वार से धीरे-धीरे रेचक करे। इसको भ्रामरी कुम्भक कहते हैं[1]।

फल— यह कुम्भक चित्त को सदा प्रसन्न करता है। चित्त के प्रसन्न होने से सब दुःखों का नाश होता है—

प्रसादे सर्व-दुःखानां हानिरस्योपजायते ।

(गीता २,६५)

इसके अभ्यास से हृदय में अपूर्व आनन्द की लीला दिखाई देती है। अतः इसका अभ्यास सन्ध्योपासना के समय अवश्य करना चाहिए जिससे सर्व दुःखों का नाश होकर परमानन्द (मोक्ष) की प्राप्ति हो।

(७) मूर्च्छा कुम्भक

पूरक प्राणायाम के पश्चात् पूर्वोक्त जालन्धर-बन्ध को कण्ठ में दृढ़ बाँध कर फिर शनैः-शनैः रेचन करे। योग-शास्त्र में इसे मूर्च्छा-कुम्भक कहते हैं[2]।

फल— इसके अभ्यास से मन मूर्च्छित होता है अर्थात् चाञ्चल्य-रहित होकर एकाग्र होता है। मन के स्थिर होने से उत्तम सुख, शान्ति मिलती है। इस प्राणायाम से मानसिक सारी व्यथायें नष्ट होती हैं।

---

१. ह० प्र० २, ६८ :

अथ भ्रामरी—

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्द-मन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्द-लीला ॥

२. ह० प्र० २, ६९ :

अथ मूर्च्छा—

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥

अतः सन्ध्या-समय इसका भी अभ्यास करना चाहिए जिससे मन स्थिर हो ।

(८) प्लाविनी कुम्भक

बाह्य-स्थित वायु को पूरक करके उदर-पर्यन्त पूर्ति कर लेना यह प्लाविनी-कुम्भक है अर्थात् बाह्य वायु का पूरक करके उदर तक भर लेना यह प्लाविनी-कुम्भक प्राणायाम है ।

फल— इसका अभ्यास दृढ होने से योगी अगाध जल में कमल-पत्र की तरह ऊपर तैरता है । जैसे मनुष्य जमीन पर चलता-फिरता है उसी प्रकार वह पानी पर चल-फिर सकता है अर्थात् उसको पानी डुबा नहीं सकता ।[1]

मेरे गुरुदेव कभी-कभी "प्लाविनी-कुम्भक किया करते थे, वह घण्टे, दो-दो घण्टे तक पद्मासन लगाकर, जैसे जमीन पर बैठे हों वैसे, पानी पर बैठ जाते थे परन्तु पानी उनके जानुओं के ऊपर नहीं आता था ।"

अतः इस कुम्भक का अभ्यास भी प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए ताकि उसे जल में डूबने का भय न रहे ।

पूर्वोक्त रेचक-पूरक सहित, कुम्भक के आठ भेद और उनसे सकल रोगों का नाश-रूप फल कथन किया ।

अब केवल-कुम्भक और उसकी शक्ति का परिचय कराया जाता है—

---

१. ह० प्र० २, ७० :

अथ प्लाविनी—

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत् ।।

केवल-कुम्भक

न रेचक करना न पूरक करना किन्तु नासा-द्वारों में स्थित प्राण को एक वार ही सुखपूर्वक रोक लेना। जैसे मोटर और रेलगाड़ी का ब्रेक बाँधने से गाड़ी एकदम रुक जाती है वैसे ही प्राण का रेचक एवं पूरक किये विना ही एकदम कुम्भक करके रोक लेना—इसका नाम केवल-कुम्भक प्राणायाम है।

जब तक केवल-कुम्भक की सिद्धि न हो तब तक सूर्य-भेदन आदि सहित-कुम्भकों का अभ्यास करते रहना चाहिए।

केवल-कुम्भक सिद्ध होने पर अन्य कुम्भकों की आवश्यकता नहीं क्योंकि केवल-कुम्भक ही प्राणायाम की परमावधि है[1]। इसके सिद्ध होने पर उस मनुष्य में इतनी सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने और अन्यों के भयङ्कर से भयङ्कर सब प्रकार के असाध्य रोगों को भी अपनी इच्छा-शक्ति मात्र से ही मिटा सकता है। उसकी दृष्टि ऐसी अमृतमय हो जाती है कि वह हजारों घायल तथा रोगियों को देखने एवं छूने मात्र से आराम कर सकता है।

इस योग-चिकित्सा का ऐसा अद्भुत चमत्कार है कि इसकी साधारण (मामूली) षट्-क्रिया का एक अङ्ग जो "त्राटक-ध्यान" जिसको आजकल लोग "मैस्मेरिज्म" के नाम से पुकारते हैं

---

१. ह० प्र० २, ७२ :

यावत् केवलसिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद् वायु-धारणम् ।।
प्राणायामोऽमित्युक्तः स वै केवल-कुम्भकः ।

उपर्युक्त सूर्य-भेदन आदि आठ सहित-कुम्भकों का अनुष्ठान तब तक करना होता है जब तक इनके फल-स्वरूप सुषुम्ना का द्वार खुलकर उसमें प्राण प्रविष्ट न हो जाय। सुषुम्ना में प्राण के प्रवेश का ज्ञान योगाभ्यासी को उसमें उत्पन्न शब्द-विशेष के श्रवण से हो जाता है। प्राण के सुषुम्ना के प्रवेश होने पर ही केवल-कुम्भक हो पाता है। उस अवस्था में सहित-कुम्भक की संख्या कम (दस या बीस तक) करके केवल-कुम्भकों की संख्या ८० तक पहुँचा देनी चाहिए। —सम्पादकः

केवल उसके अभ्यास-मात्र से मनुष्य में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह अपने और दूसरे रोगों को मिटा देता है और अपनी दृष्टि से अन्य मनुष्य को बेहोश (मूर्च्छित) करके दूर वा समीप स्थानों के हालात जान लेता है। यदि वह षट्क्रिया-सहित अष्ट प्राणायामों का अभ्यास करके केवल-कुम्भक तक पहुँच जाय तो उसकी शक्ति का क्या ठिकाना है !

३

लय-योग

यौगिक क्रियाओं में लय-योग तृतीय-स्थानीय है और इस कारण मन्त्र-योग तथा हठ-योग की अपेक्षा से सूक्ष्म-विज्ञान से युक्त है। मानसिक ध्यान द्वारा अति-स्थूल से अति-सूक्ष्म की ओर आत्मा को परमात्मा के सच्चिदानन्द-स्वरूप में (सिन्धु में बिन्दु की भाँति) मिलाना लय-योग कहाता है[1]। चित्त (मन) वृत्ति-निरोध प्रत्येक योग में परमावश्यक है। अतः इस बात को सदैव ध्यान में रखना होगा कि चित्त (मन) को निरोध (वश) में किये विना कोई भी योग सफलीभूत नहीं होगा।

चित्त-निरोध की 'अपनी अनुभूत कुञ्जी' निम्न प्रकार बतलाता हूँ। इसी कुञ्जी से बिल्कुल चित्त-निरोध अर्थात् मनोलय करके लय-योग रूपी ताला को खोलना है। उसके खुल जाने पर राज-योग के साधन में भी सफलता मिलेगी—

---

१. 'लय-योग' शब्द में 'लय' का अर्थ 'चित्त-लय' ही है। योगतत्त्वोपनिषत् (२२-२३) में कहा है—

लय-योगश्चित्त-लयः कोटिशः प्रकीर्त्तितः।
गच्छन् तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्।
स एव लय-योगः स्यात् ॥ —सम्पादकः

चित्त-निरोध की कुञ्जी

(मनोलय)

गजल

बिना अभ्यास-वैराग्य के, यह मन कभी रुकता नहीं ।
और उपाय लाखों करो, विषयों से यह हटता नहीं ।।टेक।।

मन चञ्चल दुनियाँ में भटके, क्षण भर भी वो टिकता नहीं ।
विषयों में दोष देखे बिना, वैराग्य इसे होता नहीं ।। १ ।।

बिना दृढ़ वैराग्य के, अभ्यास भी बनता नहीं ।
बिना ब्रह्माभ्यास के, मन का लय होता नहीं ।। २ ।।

द्वैत-वासना जब तक मन में, तब तक मन मरता नहीं ।
अद्वैत-भावना दृढ़ होने पर, मन का खोज मिलता नहीं ।। ३ ।।

'अभयानन्द' ब्रह्म-विचार से, मन का पता लगता नहीं ।
एक-दृष्टि देखने से—शोक, मोह रहता नहीं ।। ४ ।।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।

(ईशोपनिषद्, मं० ७)

"मैं" को जानकर, "मैं"-पन छोड़ते हुए, परमात्मा में अनन्य प्रेम होने से सहज ही परम शान्ति मिलती है। क्योंकि जब तक "मैं" है तब तक "मन" है । जब "मैं" नहीं तब "मन" नहीं । 'हम न तुम दफ्तर गुम' ।

कहा भी है कि—

आशिको माशूक जब हो एक ही ।
दो समझना तब उसे है अबलेही[1] ।।

परन्तु सिद्धान्त में वास्तव में दो ही हैं, एक नहीं ।
अब राजयोग के विषय में कथन करूँगा—

---

१. अबलेही=बेवकूफी=मूर्खता ।

(४)

राज-योग

प्रश्न— राज-योग क्या है ?

उत्तर— सब योगों का राजा वा सब योगों में श्रेष्ठतम होने से ही इसका नाम **राज-योग** है—

राजत्वात् सर्वयोगानां राज-योग इति स्मृतः[1] ।

मन्त्र-योग, हठ-योग, लय-योग के साधन द्वारा धीरे-धीरे स्थूल से अतिसूक्ष्म की ओर चित्त-वृत्ति को नियोजित करके अन्त में राज-योग साधन द्वारा सच्चिदानन्द-स्वरूप पर-ब्रह्म परमात्मा के सत्-चित्-आनन्द गुणों में अपने 'सत्-चित्' जीवात्मा को विलीन किया जाता है। क्रिया-मूलक योग-साधनों में से अन्तिम साधना राज-योग है। अर्थात् चित्त (मन) को एकाग्र करके परमात्मा के सगुण (गुण-सहित) और निर्गुण (गुणों से रहित) स्वरूप पर मनन करते-करते अन्त में आत्मा का समाधिस्थ हो जाना ही राज-योग है।

राजयोग की सफलता की कुञ्जी

(१)

जाग्रत् पर विचारों का, स्वप्न अवस्था लाना है।
स्वप्न अवस्था से सुन साधो ! जाग्रत् पर पुनि आना है ।।

(२)

जाग्रत् पर विचारों का, सुषुप्ति अवस्था लाना है।
सुषुप्ति अवस्था से सुन साधो ! जाग्रत् पर पुनि आना है ।।

---

१. योगानां राजा (=सर्वश्रेष्ठः) = राज-योगः, राजदन्तवत् शब्द-प्रयोगः ।

(३)

जाग्रत् पर विचारों का, मूर्च्छावस्था लाना है।
मूर्च्छावस्था से सुन साधो! जाग्रत् पर पुनि आना है।।

(४)

जाग्रत् पर विचारों का, मृत्यु-अवस्था लाना है।
मृत्यु अवस्था से सुन साधो! जाग्रत् पर पुनि आना है।।

(५)

साधन-फल इन पाँचों का, निरोध चित्त हो जाना है।
'अभय' मिलेगा निश्चय जानो, समाधि मुक्ति का पाना है।।

पाँच अवस्थाओं[1] की साधन-विधि

प्रथम मास— सिद्धासन या पद्मासन अथवा सुखासन से दिवाल की ओर पीठ करके श्वास को धीरे-धीरे पूरक करे और जब तक भीतर रोक सके रोके अर्थात् कुम्भक करे। कुम्भक की अवस्था में अपने समस्त विचारों को रोकने का अभ्यास स्वप्नावस्था की भाँति अनुभव प्राप्त करे। जब कुम्भक से दिल घबड़ाने लगे उसी समय श्वास का धीरे-धीरे रेचन कर देवे। इसी प्रकार

---

१. सामान्यतः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक 'तुर्य' (=चौथी) अवस्था भी प्रसिद्ध है। हठ-प्रदीपिका आदि हठ-योग के ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रथम तीन के साथ 'मूर्च्छा' और 'मरण' इन दो जीवात्मा की अवस्थाओं को जोड़कर पाँच अवस्थाएं कही हैं (द्र० ह० प्र० ४, १०७)। इसके आधार पर ही उपर्युक्त वर्णन है। बद्ध जीवात्मा की पाँच अवस्थाओं को मानकर भी जीवन्मुक्त की अवस्था को 'तुर्य' भी कहना हठयोगियों का स्ववचो-व्याघात प्रतीत होता है। —सम्पादकः

नित्य प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय ५-५ बार एक मास तक बराबर अभ्यास जारी रखे।

द्वितीय मास— कुल विधि यथा-पूर्व करनी होगी। विशेष यह है कि कुम्भक के समय एकाएकी तुरत स्वप्नावस्था की जगह सुषुप्ति अवस्था का अनुभव प्राप्त कर अभ्यास करना ५-५ बार होगा।

तृतीय मास— उपरोक्त विधि के साथ कुम्भक के समय एकाएकी तुरत सुषुप्ति अवस्था के स्थान पर मूर्च्छा अवस्था (जैसे शिर पर भारी चोट लगने अथवा गम्भीर शोक होने पर होती है) का अनुभव प्राप्त कर विचारों को शून्य करने का अभ्यास प्रातः सायं ५-५ बार करना होगा।

चतुर्थ मास— उक्त विधि के साथ कुम्भक के समय एकाएकी मूर्च्छा-अवस्था के स्थान पर मृत्यु-अवस्था का अनुभव प्राप्त कर विचारों को बिल्कुल शून्य करने का (निर्वितर्क) अभ्यास उसी प्रकार प्रातः-सायं ५-५ बार करना होगा।

जब उपर्युक्त विधियों को अभ्यासी चार मास करेगा तब चित्त की कुल वृत्तियों का निरोध अवश्य हो जायेगा। समाधि और मुक्ति का योग्य-अधिकारी भी वह बन जायगा[१]।

श्री भगवान् पतञ्जलि-कृत योग-दर्शन द्वारा वर्णित अष्टाङ्ग-योग ही सम्पूर्ण-योग साधनों की भित्ति (दिवाल) रूप है। इसलिए राजयोग के मूल में भी योग-दर्शनोक्त अष्टाङ्ग-योग का सन्निवेश है। परन्तु राजयोग का साधन अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्म रूप से होने से और उसमें स्थूल-शरीर तथा वायु-सम्बन्धी कोई भी क्रिया न रहने से मन्त्र-योग, हठ-योग, लय-योग में बताये गए साधनों की तरह नहीं है। वे सब अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) के द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्र रूप से ही साधित होते हैं[२]।

---

१. राजयोग-साधन के विषय में इसी पुस्तक के प्रारम्भिक 'प्रथम विवेक' पृष्ठ ६ पंक्ति ९ से पृष्ठ १३ तक देखना चाहिए।

२. उन्हें यहाँ कहने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि 'सम्पूर्णयोग' पुस्तक के उत्तरार्द्ध में क्रियात्मक अष्टाङ्ग-योग का, जो योगदर्शनानुसार है, विस्तार से वर्णन किया जायगा।

सम्पूर्ण-योग साधन का मूलमन्त्र

(ब्रह्मचर्य्य)

ब्रह्मचर्य का अर्थ यहाँ पर वीर्य की रक्षा करना है। ब्रह्मचर्य चारों आश्रमियों के लिए उपयुक्त है। इस विषय पर विशेष व्याख्यान सम्पूर्ण-योग के उत्तरार्ध में किया जायेगा। यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

कव्वाली

ब्रह्मचर्य के विना कोई मजा आता नहीं।
भोग, योग और ज्ञान का कुछ भी मजा पाता नहीं ।।टेक।।

वीर्य के संग्रह विना भोग कर सकता नहीं।
अगर कभी कहीं हो सके तो अधिक फल पाता नहीं ।।१।।

अष्ट-मैथुन[1] त्याग विन योग सफल होता नहीं।
ध्यान समाधि धारणा में मन कभी लगता नहीं ।।२।।

---

१. दक्ष-संहिता के अनुसार मैथुन के आठ अङ्ग हैं। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उनमें से प्रत्येक से अलग रहना अत्यन्त आवश्यक है।

ये आठ अङ्ग ये हैं—

(१) काम-वासना की दृष्टि से पुरुष द्वारा स्त्री को देखना अथवा स्त्री के द्वारा पुरुष को देखना। (२) स्मरण करना। (३) एकान्त में बातें करना। (४) गुणों का वर्णन करना। (५) क्रीड़ा। (६) मन में सङ्कल्प का उठना। (७) निश्चय करना और (८) शारीरिक क्रिया का सम्पन्न होना। वचन इस प्रकार है—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेद् अष्टधा लक्षणं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य-भाषणम् ।।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। —सम्पादकः

विषयासक्त हो चित्त जिसका ज्ञान में जाता नहीं।
ब्रह्मचर्य-हीन जो, ज्ञानी कभी होता नहीं ।।३।।
दुनिया में जितने मजे ब्रह्मचर्य विन फीके लगे।
'अभयानन्द' विन लवण के भोजन भी रस देता नहीं ।।४।।

अब केवल नित्य अभ्यास के दैनिक कार्य्यक्रम को बतलाकर इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध-भाग को पूर्ण करूँगा—

नित्याभ्यास का दैनिक कार्य्यक्रम

(१) प्रातःकाल जितनी शीघ्रता हो सके उतना ही शीघ्र उठो। मल-विसर्जन, मुख-मार्जन आदि के अनन्तर भगवान् भवन-भास्कर (सूर्य्य) की किरण को धारण करो।

(२) किरण-धारण करते-करते— "ॐ" का लक्ष्य करके, घण्टा-नाद के समान रण-रणत्कार दीर्घ स्वर में (अर्थात् ॐ स्वर से मुख बन्द कर) 'ओ३म्' का उच्चारण करो।

(३) इस उच्चारण काल में दृढ़ संकल्प— भावना—से लक्ष्य-वेध करो कि—मैं अपने शरीर में—जगत् की सर्वशक्ति को एकत्रित कर रहा हूँ, प्राण-शक्ति का संचार मेरे शरीर के कण-कण में हो रहा है और उसी में चिति-शक्ति (चिन्तन, विचार) का निरोध हो रहा है।

प्रातःकाल की इतनी ही १ मिनट से ५ मिनट तक की क्रिया है।

(४) स्नान कर लेने पर— सन्ध्या, गायत्री-मन्त्र का 'मानसिक' जप कर लेने पर आसन—सिद्धासन या पद्मासन अथवा सुखासन—लगाकर सीधे, पीठ को तानकर गर्दन ऊँची रखकर बैठो और मुख बन्द करके दोनों नथुनों से शान्ति-पूर्वक श्वास खींचो और यथा-शक्ति उसे रोककर दोनों नथुनों से धीरे-धीरे श्वास का रेचन कर दो। यह श्वास का लेना-छोड़ना ५ से २१ बार तक करना पर्याप्त है। यह 'साधारण-प्राणायाम' की विधि है। विशेष विधि उत्तरार्द्ध में वर्णनार्थ मिलेगी।

(५) भोजनोत्तर— अपने काम में, अपने व्यवहार में व्यस्त रहो। निमग्न रहो तो भी दोनों भौंहों के बीच भृकुटी में अन्तर्दृष्टि बाँध कर मन से देखने का अभ्यास करो और मन को स्थिर करके वहीं प्रणव (ॐ) पर पूरा लक्ष्य रखो।

(६) श्वास चाहे जिस तरह लो किन्तु उसका प्रश्वास अर्थात् श्वास का निर्यात बहुत धीरे-धीरे करो और यथा-शक्ति उसको रोककर नासिका से छाती तक और छाती से नाभि तक दो-तीन बार ले जाकर धीरे-धीरे छोड़ दिया करो।

(७) सायंकाल—नित्य-नियम (सन्ध्या आदि) यदि कुछ करते हो तो करके—फिर स्वच्छ (खुली) हवा में प्रातःकाल के समान 'ॐ' का उच्चारण कर लेने पर खड़े-खड़े कम से कम पाँच 'साधारण-प्राणायाम' उपर्युक्त संख्या ४ के अनुसार करो।

(८) रात्रि को सोते समय—बिस्तर पर सीधे लेट जाओ। गर्दन के नीचे कुछ न लो। सारे शरीर को शिथिल (=ढीला) करके दोनों हाथ सीधे पसार (फैला) दो और श्वास धीरे-धीरे पेट में भर के छाती तक ला के फिर नाभि तक ले जाकर धीरे-धीरे छोड़ दो। इस प्रकार—तीन से कम नहीं, और सात से अधिक नहीं—प्राणायाम संख्या ४ की भाँति करो और किसी बात का चिन्तन वा विचार न करते हुए दिनभर की सब बातें भूल करके केवल 'ॐ' का स्मरण, चिन्तन, ध्यान करते हुए सो जाओ।

(९) कोई भी क्रिया करते समय—प्राण-शक्ति पर, सूर्य-चक्र नाभि पर और 'ॐ' पर पूरा लक्ष्य रखो। मुख में 'ॐ' का उच्चारण करो और हृदय में सदा उसका लक्ष्य रखो।

(१०) मुख से कभी श्वास न लो और न प्रश्वास करो। मुख केवल भोजन, पान और बोलने के लिए बनाया गया है।

उपर्युक्त अभ्यास का फल

विचार की सुन्दरता, विचार में माधुर्य, गाम्भीर्य और सौन्दर्य उत्पन्न होना, श्वास-प्रश्वास की समता, मन की स्थिरता शरीर का हलका होना, मल-मूत्र का अल्प होना, शरीर की

आरोग्यता अर्थात् लघुता, सुवर्णता, ओजस्विता और चुस्ती को प्राप्त होना, आहार-विहार की नियमिता, अजीर्णता का नाश, बल की वृद्धि होना, निद्रा-क्षुधा-तृषा की सहन-शीलता, शीत-उष्ण की सहिष्णुता, निर्भयता-निःशङ्कता-निःसङ्गता-निरिच्छता का आविर्भाव होना, शान्ति का उदय होना, वर्तमान काल का भविष्यकाल में परिवर्तन होके उसका भूतकाल का होना (जैसा कि 'है'→ 'होगा'→'हो गया'), सुखियों के साथ मैत्री, दुखियों के ऊपर करुणा, पुण्यात्माओं को देखकर मुदिता (प्रसन्नता) और पापियों के साथ उपेक्षा का भाव रखना, दया-परोपकार-प्रेम-उदारता आदि का होना, यम-नियम आदि का स्वयमेव पालन होना, चित्त-निरोध का होना, ईश्वर में चित्त का रमण होना, काम क्रोधादि का शमन और आनन्द का सञ्चार होना, शोक-दुःखादि का दूर होना, प्रत्येक समय ईश्वरीय ज्ञान-ध्यान में महाराज जनक की भाँति आनन्दित रहना इत्यादि फल अवश्य प्राप्त होते हैं। परन्तु इन सबों की प्राप्ति नित्यशः अभ्यास और दृढ़ विश्वास तथा सद्विचार पर निर्भर है। *शमित्योम् ।*

*** सम्पूर्णयोगस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम् ***